प्राकृत-संस्कृत का समानान्तर अध्ययन

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

प्राकृत-संस्कृत का समानान्तर अध्ययन

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

एम्० ए० (प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी) स्वर्णपदकप्राप्त, पी-एच्० डी०
भूतपूर्व प्राकृत-व्याख्याता, प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली (बिहार)
प्र० शोध-उपनिदेशक एवं सम्पादक : 'परिषद्-पत्रिका'
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

प्रकाशक :

भाषा-साहित्य-संस्थान

१४७, त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद-३

प्रकाशक :

डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त

भाषा-साहित्य-संस्थान

१४७, त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद–३

दूरभाष : ५४८७०

प्रथम संस्करण, महावीर जयंती; १४ अप्रैल, सन् १९८४ ई०

सजिल्द मूल्य : पच्चीस रुपये

अजिल्द मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :

सतीशचन्द्र श्रीवास्तव द्वारा

जगमोहन प्रिण्टर्स, २९, सम्मेलन-मार्ग

सारस्वत यज्ञ में
आत्माहुति द्वारा कल्पप्रतिष्ठ
पुण्यश्लोक आचार्य-मित्र
डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
को
सश्रद्ध
श्रीरंजन सूरिदेव

आत्मिका

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में हमारी सबसे बड़ी समस्या यही है कि हम बहुधा एकांगी अध्ययन को ही पर्याप्त मानकर अपनी सारस्वत यात्रा को पूर्ण विराम दे देते हैं। यह अनपेक्षित 'आत्मतुष्टि' हमें पूर्णता तक पहुँचने ही नहीं देती। 'आत्मतुष्टि' की इस अवरोधमूलक समस्या के समाधान की एक ही युक्ति है—विभिन्न भाषाओं और साहित्यों का समानान्तर अध्ययन।

प्रस्तुत कृति में प्राकृत और संस्कृत-साहित्य के समानान्तर अध्ययन को दिग्दर्शित किया गया है। संस्कृत के समानान्तर अध्ययन के लिए प्राकृत में अनेक मूल्यवान् भाषिक एवं साहित्यिक तत्त्व निहित हैं। क्योंकि, प्रारम्भ से ही संस्कृत और प्राकृत समानान्तर रूप से प्रवाहित होनेवाली भाषाएँ हैं। इन दोनों भाषाओं की पूर्वापरवर्त्तिता की कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। इन दोनों भाषाओं के साहित्य में साधना और अनुभूति की समरसता तो है ही, इनमें निहित सत्य और सौन्दर्य की भी समरूपता परिलक्षित होती है। तात्त्विकता तो यह है कि साहित्य में, चाहे वह किसी भी भाषा में निबद्ध हो, सांस्कृतिक जीवन की समग्रता या चिरन्तनता का चित्रण, भाषिक भिन्नता के बावजूद, एकमेक ही रहता है।

प्रत्येक मानव के मानसिक भावों का प्रवाह समगति हुआ करता है, इसलिए प्रत्येक भाषा का साहित्यकार अपनी शब्दावली में, अपनी दृष्टि से सत्य, शिव और सुन्दर की समभावना या सार्वभौमता की साधना को ही रूपायित करता है, जिसमें भाषा की अनेकता के बावजूद भाव की एकता या समानता निश्चित रूप से विद्यमान रहती है। इस प्रकार, विभक्त की अविभक्त रूप में साग्रह अवतारणा के कारण ही 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति—'सहित का भाव' सार्थक है।

प्रत्येक भाषा की साहित्य-रचना का आदर्श तादात्विक नहीं, अपितु आत्यन्तिक या शाश्वतिक मूल्य रखता है। इसलिए, प्राकृत और संस्कृत-साहित्य में भी प्रकृति और मानव के समस्रोत मनोभावों के अनेक रसपेशल चित्रों की समान उद्भावनाएँ प्राप्त होती हैं। क्योंकि, समकालीन जीवन ने इन दोनों भाषाओं के युगचेता रचनाकारों को समान रूप से आवर्जित किया है, साथ ही दोनों की रचना-प्रक्रियाएँ भी एक दूसरे से समानान्तरता के साथ प्रभावित हुई हैं। इसलिए, इन दोनों ही भाषाओं के, विपुल विधाओं में प्राप्त, साहित्य में समान रूप से समग्र मनोवृत्तियों का विश्लेषण तथा भावानुभाव की अभिव्यंजना समुपलब्ध होती है। समान भाव से मनोवैज्ञानिक तथ्यों का विवेचन करनेवाले, इन दोनों भाषाओं के

साहित्यस्रष्टाओं के कथ्य और शिल्प में अद्भुत सादृश्य दृष्टिगत होता है। इसलिए, इन दोनों ही भाषाओं के साहित्य में अभिनव पदशय्या, नवीन अर्थाभिव्यक्ति, मंजुल भाव-कल्पना, माधुर्य और ओज से संवलित शब्दों की प्रभविष्णुता, स्फूर्त्त रसाभिनिवेश एवं मनोरम काव्यभाषा का समान रूप से अनुगुम्फन प्राप्त होता है।

अतएव, प्राकृत और संस्कृत-भाषाओं के साहित्य में निहित भाषावैज्ञानिक मूल्यों तथा भारतीय संस्कृति के चित्तचमत्कारक इतिवृत्तों की अवगति के निमित्त दोनों का समानान्तर अध्ययन अनिवार्य है। और, इन दोनों भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट समानान्तर तत्त्वों के परिशीलन से ही भारतीय जीवन की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विशेषताओं का समग्रात्मक परिज्ञान सम्भव है।

प्रस्तुत अल्पकाय कृति के सन्दर्भ में यह दावा नहीं किया जा सकता कि इसमें प्राकृत-संस्कृत के समानान्तर तत्त्वों का सांगोपांग अध्ययन हुआ है, अपितु नम्र निवेदन यह है कि मैंने नतिदीर्घ विस्तार से प्राकृत-वाङ्मय में प्राप्य उन सारस्वत तत्त्वों की ओर संकेतमात्र किया है, जिनसे संस्कृत-वाङ्मय के समानान्तर अध्ययन में तात्त्विक सहयोग की सहज सुलभता सम्भव है। इस प्रक्रिया में जितने विषयगत विवरण एवं ऐतिह्य तथ्य इस कृति को परिपुष्ट कर सके हैं, वे सब-के-सब प्राकृत के पूर्वसूरियों द्वारा निर्मित तीर्थ पर आधृत हैं। किन्तु, तथ्य-निरूपण की यथास्वीकृत प्रणाली तथा तत्संगत व्याख्या-विवेचन एवं निष्कर्ष-निर्धारण मेरे अपने हैं। प्रबुद्ध पाठक यदि इस कृति के प्रतिपादन में मेरा भी 'कुछ' परिलक्षित कर पायेंगे, तो यह सारस्वत प्रयास लघु होकर भी व्यर्थ नहीं माना जायगा। मनीषा की ईमानदारी ने मुझे सदा आश्वस्त किया है।

मैं अपने उन समस्त पूर्वसूरियों की साधना के प्रति नतशीर्ष हूँ, जिनकी ग्रन्थाकार विद्या-विभूति से मेरी यह कृति प्रतिरूपित हो पाई है। पादटिप्पणी में यथाप्रसंग उनके नाम कीर्त्तित हैं। सारस्वत जगत् के वन्दनीय हस्ताक्षर एवं आदरणीय ऋजुप्राज्ञ डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्तजी की गुणज्ञता का मैं अधमर्ण हूँ कि उन्होंने मेरी इस उपेक्षित अक्षर-साधना को प्रकाशित कर मुझे अपेक्षित कृतार्थता प्रदान की।

अन्त में, मैं उस पारमेश्वरी विभूति के प्रति श्रद्धानत हूँ, जिसकी अहैतुकी अनुकम्पा से यह सारस्वत कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हुआ।

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना–४
महावीर-जयन्ती, १९८४ खृष्टाब्द

विषय-क्रम

अध्ययन : ३

अध्ययन : ४

अध्ययन : ५

पीठिका

१. प्राकृत एवं संस्कृत का समानान्तर भाषिक विकास

यह सर्वविदित है कि प्राकृत-भाषा ने मध्ययुग में प्रचुर जनसम्मान अर्जित किया। आधुनिक विद्वानों ने प्राकृत के सम्बन्ध में इस पक्ष का समर्थन किया है कि यह भाषा संस्कृत से नहीं उत्पन्न हुई, अपितु प्रकृति के नियमानुसार यह स्वयं सर्वप्रथम आविर्भूत हुई। क्योंकि, 'प्राकृत' नाम ही इस बात को स्वयं संकेतित कर देती है। आधुनिक विद्वानों का यहाँतक कहना है कि संस्कृत ही प्राकृत का संस्कार-सम्पन्न रूप है।

किन्तु, **आचार्य हेमचन्द्र सूरि** के कथन से उक्त तथ्य स्वतः खण्डित हो जाता है। आचार्य सूरि ने मूल भाषा संस्कृत से प्राकृत का उद्भव मानते हुए यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'प्रकृतिः संस्कृतम्, तत आगतं प्राकृतम्।' अर्थात्, मूल प्रकृति संस्कृत से ही प्राकृत का आविर्भाव हुआ। सच पूछिए, तो आधुनिकों की इस धारणा में कि 'प्राकृत संस्कृत-भाषा से भी प्राचीन है' किसी सबल प्रमाण की दृढता नहीं है। इसलिए कि संस्कृत-निबद्ध वेद से प्राचीन कोई भी प्राकृत-निबद्ध कृति उपलब्ध नहीं। इसके अतिरिक्त, साधारण बुद्धिवाले भी मोटे तौर पर यह जानते हैं या जान सकते हैं कि प्राकृत-भाषा में संस्कृत का मूलाधार स्पष्ट है। और, यही कारण है कि प्राकृत के अनेक शब्दानुशासन संस्कृत में लिपिबद्ध हुए हैं। **भरत मुनि** का 'नाट्यशास्त्र' ऐसा ग्रन्थ है, जिसके सत्रहवें अध्याय में, विभिन्न भाषाओं के निरूपण के क्रम में, ६–२३वें पद्य तक प्राकृत-व्याकरण के सिद्धान्त निर्दिष्ट हुए हैं और बत्तीसवें अध्याय में उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु, **भरत** के ये अनुशासन-सम्बन्धी सिद्धान्त इतने संक्षिप्त और अपरिस्फुट हैं कि इनका उल्लेख केवल भाषागत ऐतिहासिक उपयोगिता को ही सिद्ध करता है।

संस्कृत-प्राकृत का पारस्परिक सम्बन्ध :

तत्त्वतः, संस्कृत और प्राकृत का सहभाव सनातन है। प्राकृत के गद्य या पद्य की जो अवतारणा संस्कृत में होती है, उसे 'छाया' नाम से सार्वकालिक प्रसिद्धि प्राप्त है। अतएव, यह सहज ही अनुमेय है कि संस्कृत और प्राकृत में छाया-मात्र का अन्तर है। इससे इस बात का सहज ही निरास हो जाता है कि प्राकृत की छाया पर संस्कृत उत्पन्न हुई। प्रत्युत, इससे तो यही सुस्पष्ट होता है कि संस्कृत की छाया से ही प्राकृत की उत्पत्ति हुई। इसलिए, यदि यह कहा जाय कि प्राकृत संस्कृत की ही 'छाया-भाषा' है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। अथवा, ऐसा भी कहा जा सकता है कि संस्कृत और प्राकृत में काया-छाया का सम्बन्ध है।

संस्कृत का अपकर्ष : प्राकृत का उत्कर्ष :

परन्तु, एक समय ऐसा भी आया, जब प्राकृत के समक्ष संस्कृत विच्छाय या मलिन पड़ गई। मधुर-मधुरतर विषयों में तो प्राकृत को छोड़ संस्कृत का परिग्रहण जनसाधारण के लिए अत्यन्त ही अरुचिकर हो गया। प्रथित नौ रसों में शृंगार सर्वाधिक मधुर है, यह कौन रसज्ञ नहीं जानता? किन्तु, तत्कालीन विद्वानों का यही निश्चय था कि शृंगार का सम्यक् परिपाक प्राकृत में ही अधिक सम्भव है। और, शृंगार के अधिष्ठाता देवता कामदेव की केलिभूमि प्राकृत ही मानी जाने लगी थी एवं उस समय साभिमान यह घोषणा की जाती थी :

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहं ण लज्जन्ति॥
(अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति।
कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्ति ते कथं न लज्जन्ते॥)

अर्थात्, 'प्राकृत-काव्य को जो न पढ़ना ही जानते हैं, न सुनना ही, उन्हें काम की तत्त्वचिन्ता करते लज्जा होनी चाहिए।' यह उद्घोषणा केवल प्राकृत के पण्डितों या पक्षपातियों की ही नहीं थी, अपितु संस्कृत के शीर्षस्थ विद्वानों ने भी उस समय प्राकृत की उत्कण्ठ प्रशंसा की थी। यायावरमूर्द्धन्य **महाकवि राजशेखर** को कौन संस्कृतज्ञ नहीं जानता, जिनके 'बालरामायण', 'विद्धशालभंजिका' आदि रूपक-काव्य संस्कृत के रूप को बड़ी सुष्ठुता एवं सुचारुता से उभारते-सँवारते हैं एवं जिनकी प्रख्यात एवं सशक्त काव्यशास्त्रीय संस्कृत-कृति 'काव्यमीमांसा' पण्डित-समाज में साहित्यशास्त्र के असाधारण महत्त्व की स्थापना करती है। संस्कृत-सरस्वती के सौभाग्य-स्तम्भ ऐसे महाकवि ने भी उस समय प्राकृत के समक्ष संस्कृत को गौण ठहरा दिया और अपने प्रसिद्ध सट्टक 'कर्पूरमंजरी' में उस महाकवि ने स्पष्ट शब्दों में प्राणोन्मेषिणी प्राकृत-भाषा का समर्थन किया :

परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धोवि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणम्॥ (कर्पूरमंजरी)
(परुषाः संस्कृतबन्धाः प्राकृतबन्धोऽपि भवति सुकुमारः।
पुरुषमहिलानां यावदिहान्तरं तावदेतेषाम्॥)

अर्थात्, संस्कृतबद्ध काव्य कठोर-कर्कश होते हैं, किन्तु प्राकृतबद्ध काव्य ललित और कोमल। यानी, परुषता संस्कृत की और सुकुमारता प्राकृत की मौलिक विशेषता है। दोनों में उतना ही अन्तर है, जितना पुरुष और स्त्री में—एक वज्र-कठोर, दूसरी कुसुम-कोमल।

प्रसिद्ध श्वेताम्बर जैनमुनि **जयवल्लह** (जयवल्लभ) ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वज्जालग्ग' ('व्रज्यालग्न') में प्राकृत की संस्कृतातिशायी श्लाघा करते हुए कहा है :

ललिए महुरक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइअकव्वे को सक्कइ सक्कअं पढिउं॥

(ललिते मधुराक्षरे युवतिजनवल्लभे सशृङ्गारे।
सति प्राकृतकाव्ये कः शक्नोति संस्कृतं पठितुम् ॥)

अर्थात्, मधुर अक्षरोंवाले, अत्यधिक मनोरम, युवतियों के लिए प्रीतिकर एवं शृंगार रस से ओतप्रोत प्राकृत-काव्य को छोड़ संस्कृत-काव्य को कौन पढ़ना चाहेगा ?

ऐसी सम्भावना असहज नहीं कि देश, जलवायु आदि के प्रभाव से अथवा कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि के विलक्षण अभिघात से या उच्चारणेन्द्रियों की अपटुता से या और भी किन्हीं कारणों से प्राकृत आदि भाषाओं की उत्पत्ति हुई हो; परन्तु इतना तो निश्चित है कि विभिन्न वर्गों के लोगों की पारस्परिक भाषिक स्पर्द्धा के कारण प्राकृत ने पर्याप्त प्रसार प्राप्त कर लिया। वैदिक आर्यों के साथ जब जैनों-बौद्धों आदि का धार्मिक संघर्ष उपस्थित हुआ, तब वैदिक आर्यों की अपनी धर्मभाषा संस्कृत हुई और उन आर्यों की प्रतिद्वन्द्विता में जैनों ने प्रमुखतया अर्द्धमागधी-प्राकृत और बौद्धों ने पालि (प्राकृत का ही एक भेद) को अपने धर्मप्रचार के लिए अपनाया। इस प्रकार, रूप-संरचना की बहुलता के कारण यह प्राकृत जब प्रौढि-प्रकर्ष पा गई, तब इसके लिए 'मध्ययुग' की कालसीमा निर्धारित की जाने लगी। अनादिकाल से ही, संस्कृत, अपने स्वाभाविक सौष्ठव और क्रमशः प्राप्त संस्कार से उत्पन्न अनिर्वच सौन्दर्य की महिमा से बुद्धिवादियों के लिए अतिशय अभिनन्दनीय रही, और इसी संस्कृत का पदानुसरण एवं उसके साहित्य-वैभव—रस, गुण, अलंकार—आदि का अनुदान ग्रहण करके प्राकृत भी धीरे-धीरे प्रौढि की पर्याप्तता और माधुर्य की अतिशयता से एकबारगी भर गई। श्रीसम्पन्नता का यही काल प्राकृत का पूर्ण उपचय-काल माना गया। किन्तु, किसी का अतिशय उत्कर्ष भी प्रकारान्तर से उसके अपकर्ष का कारण बन जाता है। अपने उपचय या चरमोत्कर्ष-काल में प्राकृत-भाषा साहित्यिक भाषा बन गई, और ऐसी स्थिति में, जिस बात का खतरा बराबर बना रहता है, प्राकृत भी व्यावहारिक भाषिकता से दूर होती चली गई। भाषाविदों का यह प्रसिद्ध मत है कि व्याकरण के नियमों की मर्यादा में जकड़ जाने पर कोई भी भाषा व्यावहारिक नहीं रह जाती है। परिणामतः, साधारण जनता के बीच किसी एक दूसरी ही व्यवहारोपयोगी भाषा की उत्पत्ति का सूत्रपात होने लगता है। संस्कृत की भी यही दशा हो चुकी थी और नियम-नियन्त्रित प्राकृत को भी यह अनिवार्य दुर्दिन देखना ही पड़ा।

प्राकृत : अपभ्रंश के परिप्रेक्ष्य में :

इसी सन्दर्भ में हम अपभ्रंश के परिप्रेक्ष्य को लेकर थोड़ा और विचार करें। 'देववाणी' संज्ञा को प्राप्त संस्कृत-भाषा में अनेक संस्कारों के आविर्भाव के कारण जब वह जनसामान्य के लिए कठिन पड़ने लगी, तब असाधारण समुज्ज्वल दृढसंस्कार-सम्पन्न; किन्तु स्त्री-बच्चों आदि के लिए उच्चारण में सौकर्य-रहित उस

संस्कृत में विकृति उत्पन्न की जाने लगी, किन्तु उसका आधार यथावत् रहने दिया गया। इस प्रकार, संस्कृत का जो विकृत रूप लोगों के लिए प्रकृत (सुखोच्चार्य एवं सुबोध्य) हो गया, वही 'प्राकृत' की संज्ञा से अभिहित होने लगा। और, जब प्राकृत भी उज्ज्वल नेपथ्यवाली होकर अनेक अलंकारों से चमकने लगी, तब उसकी भी स्थिति अनावश्यक गहनों से लदी एक शिथिल सुन्दरी से अधिक बेहतर न रह सकी। साधारण वेश-भूषावाली स्त्रियाँ जिस प्रकार अपने गृहकार्यों को बड़ी खूबी से निबटाती हैं, उस प्रकार नख से शिखा तक अलंकृत-मर्यादित महिलाएँ नहीं निबटा पातीं; इसी प्रकार अलंकृत प्राकृत-भाषा भी जनोपयोगी कार्यों के लिए कारगर सिद्ध न होने से शनैः-शनैः व्यावहारिकता से तटस्थ होती चली गई। इसी कारण, उसमें विकृति भी उत्पन्न की जाने लगी। फलतः, उसकी जगह कार्य-व्यवहार के क्षेत्र में अपभ्रंश-भाषा ने जन्म लिया। और, जब अपभ्रंश-भाषा भी क्रम-क्रम से सौष्ठव-वृद्धि और साहित्यिक संस्कारों से उद्भासित होकर पुस्तकस्था हो गई, तब व्यवहार के लिए उसी अपभ्रंश के आधार पर प्रादेशिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई, ऐसा प्रायः सभी भाषातत्त्ववेत्ता जानते और मानते हैं। जिस समय प्राकृत और अपभ्रंश पुस्तकस्था भाषा बनी, उसी समय (सन् ११५० ई०) **हेमचन्द्राचार्य** ने प्राकृत के व्याकरण और कोश की रचना की।[1] इन दोनों रचनाओं के अन्त में अपभ्रंश के नियम और संस्कार संगृहीत हैं। अस्तु।

प्राकृत : विभिन्न विद्वानों के अभिमत :

प्राकृत की उत्पत्ति और व्युत्पत्ति की उपर्युक्त विवेचना ही अलम् नहीं है। इस सम्बन्ध में अनेक भारतीय और भारतीयेतर विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट करते हुए, अपने पक्ष के समर्थन में, बहुविध रोचक तर्क उपस्थित किये हैं। प्राचीन पण्डितों में **हेमचन्द्रसूरि** के अतिरिक्त **मार्कण्डेय** ('प्राकृतसर्वस्व'), **धनिक** ('दशरूपक-टीका'), **वासुदेव** ('कर्पूरमंजरी-टीका'), **लक्ष्मीधर** ('षड्भाषाचन्द्रिका'), **सिंहदेवगणी** ('वाग्भटालंकार-टीका'), **नरसिंह** ('प्राकृतशब्द-प्रदीपिका'), **नारायण** ('गीतगोविन्द रसिकसर्वस्व-टीका') एवं **शंकर** ('शाकुन्तल की टीका') ने एकस्वर होकर संस्कृत को ही प्राकृत की प्रकृति स्वीकार की है। इनके विपरीत, ग्यारहवीं शती के एक विद्वान् **नमिसाधु** ने **रुद्रट**-कृत 'काव्यालंकार' के एक श्लोक (२।१२) की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'प्रकृत' शब्द का अर्थ है लोगों का व्याकरण आदि के संस्कारों से रहित स्वाभाविक वचन-व्यापार, उससे उत्पन्न अथवा वही प्राकृत है। इसके पहले ही नवम शती के संस्कृत-कवि **राजशेखर** ने प्राकृत को संस्कृत की योनि—विकासस्रोत कहा है। राजशेखर के भी पूर्व अष्टम शती के विद्वान् कवि **वाक्पतिराज** ने अपने प्राकृत-महाकाव्य 'गउडवहो' में प्राकृत को जनभाषा माना है।

---

१. द्र० 'गाथासप्तशती' की भूमिका : ले० भट्टश्रीमथुरानाथ शास्त्री; निर्णयसागर प्रेस-संस्करण, सन् १९३३ ई०, पृ० ५।

कवि के आशय को स्पष्ट करते हुए उक्त महाकाव्य के सम्पादक-टीकाकार ने कहा है कि 'प्रकृति ही प्राकृत शब्दब्रह्म है और उसी के विकार या विवर्त्त संस्कृत आदि भाषाएँ हैं।'[१]

भारतीयेतर पण्डितों में **डॉ० अल्फ्रेड, डॉ० सी० वुलनर** तथा **डॉ० रिचर्ड पिशेल** ने भी मूलभाषा प्राकृत को ही मानने का सतर्क आग्रह प्रदर्शित किया है। **डॉ० वुलनर** अपने 'इण्ट्रोडक्शन टु प्राकृत'[२] नामक ग्रन्थ में प्राकृत का विकास संस्कृत से न मानकर दोनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि संस्कृत शिष्ट समाज की भाषा रही है और प्राकृत जनसाधारण के बीच बोली जाती थी। **डॉ० पिशेल** ने अपनी पुस्तक 'प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण'[३] में मूल प्राकृत को ही जनभाषा माना है और यह बताया है कि साहित्यिक प्राकृतें संस्कृत के समान ही सुव्यवस्थित हैं।

अर्वाचीन भारतीय विद्वानों में **डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, डॉ० हीरालाल जैन, डॉ० ए० एन्० उपाध्ये, डॉ० भोलाशंकर व्यास, डॉ० हरदेव बाहरी, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री** आदि ने प्राकृत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुकोणीय विचार किये हैं और कुल मिलाकर सबने प्राकृत को प्रत्यक्ष रूप से संस्कृतोद्भूत मानने की अपेक्षा संस्कृतावृत या संस्कृताधृत या संस्कृत का शाखाभेद माना है। **डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित**[४] संस्कृत के बाह्य रूप के भीतर प्राकृत को प्रवाहित देखते हैं और ऐसे संस्कृत-रूपों के ग्रन्थों में 'महाभारत' को प्रमुखतया प्रस्तुत करते हैं। **डॉ० पिशेल** से प्रभावित **डॉ० जगदीशचन्द्र जैन**[५] को भी संस्कृत से प्राकृत को उद्भूत मानना स्वीकार नहीं है। उनका कहना है कि 'वैदिक आर्यों की सामान्य बोलचाल, जो ऋग्वेद की संहिताओं की साहित्यिक भाषा से जुदा है, प्राकृत का मूल रूप है।' **डॉ० हरदेव बाहरी**[६] ने भी प्राकृतों से संस्कृत का विकास माना है और अपने तर्क में कहा है कि 'प्राकृतों से वेद की साहित्यिक भाषा का विकास हुआ, प्राकृतों से संस्कृत का भी विकास हुआ और प्राकृतों से इनके अपने साहित्यिक रूप भी विकसित हुए।'

---

१. 'अथवा प्रकृतिरेव प्राकृतं शब्दब्रह्म। तस्य विकारा विवर्त्ता वा संस्कृतादय इति मन्यते स्म कविः।'—गउडवहो, कविप्रशंसा, श्लोक-सं० ६३ की टीका; भं० ओ० रि० इं०, पूना-संस्क०, सन् १९२७ ई०।

२. प्र० पंजाब-विश्वविद्यालय, लाहौर, द्वि० सं०, सन् १९२८ ई०, पृ० ३४।

३. अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी; प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-४, पृ० १४।

४. प्राकृत-भाषा; प्र० श्रीपार्श्वनाथ-विद्याश्रम, वाराणसी, सन् १९५४ ई०, पृ० १६।

५. प्राकृत-साहित्य का इतिहास, प्र० चौखम्बा संस्कृत-विद्याभवन, वाराणसी, पृ० ५।

६. प्राकृत-भाषा और उसका साहित्य; प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सं०, पृ० १३।

छान्दस से प्राकृत का विकास :

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री[1] ने **डॉ० जगदीशचन्द्र जैन** के विचारों को व्यवस्थित करते हुए प्राचीन आर्यभाषा 'छान्दस' से प्राकृत का विकास माना है और फिर अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्राकृत का विकास प्राचीन आर्यभाषा, यानी तत्कालीन जनभाषा 'छान्दस' से हुआ है और लौकिक संस्कृत या संस्कृत-भाषा भी 'छान्दस' से विकसित है। अतः, विकास की दृष्टि से प्राकृत और संस्कृत दोनों सहोदरा भाषाएँ हैं। दोनों एक ही स्रोत से समुद्भूत हैं।

इस प्रकार, उपर्युक्त समग्र विवेचन से तीन धाराएँ स्थिर होती हैं: १. प्राकृत संस्कृत से उद्भूत है; २. प्राकृत मूल भाषा है और उसी से संस्कृत विकसित हुई है। ३. प्राकृत और संस्कृत दो स्वतन्त्र भाषाएँ हैं और दोनों का विकास-स्रोत वैदिक 'छान्दस' भाषा है। तीसरी धारणा के अनुसार, **डॉ० शास्त्री**[2] ने प्राकृत के दो मूल भेद माने हैं : कथ्य और साहित्य-निबद्ध। कथ्यभाषा प्रथमस्तरीय प्राकृत है, जो प्राचीन समय में जनबोली के रूप में प्रचलित थी और जिसका साहित्य आज उपलब्ध नहीं। किन्तु, उसके मूलरूप की झलक 'छान्दस'-साहित्य में मिलती है। और, द्वितीयस्तरीय प्राकृत तीन युगों में विभक्त है : प्रथम युग, मध्य-युग और उत्तर अर्वाचीन युग या अपभ्रंश-युग। **डॉ० शास्त्री** ने प्रथम युग (ई० पू० छठी शती से ईसवी की द्वितीय शती तक) की प्राकृतों में शिलालेख-निबद्ध प्राकृत, प्राकृत-धम्मपद की प्राकृत, आर्ष पालि, प्राचीन जैनसूत्रों की प्राकृत और **अश्वघोष** के नाटकों की प्राकृतों की परिगणना की है। मध्ययुगीन (सन् २०० से ६०० ई० तक) प्राकृतों में **भास** और **कालिदास** के नाटकों की प्राकृत, गीतिकाव्यों और महाकाव्यों की प्राकृत, परवर्त्ती जैनकाव्य-साहित्य की प्राकृत, प्राकृत-वैयाकरणों द्वारा निरूपित और अनुशासित प्राकृतें एवं 'बृहत्कथा' की पैशाची-प्राकृत को परिगणित किया है और उत्तर अर्वाचीन युग या अपभ्रंश-युग (सन् ६०० से १२०० ई० तक) में विभिन्न प्रदेशों की प्राकृतों को परिगणनीय माना है।

प्राकृत और संस्कृत का सहविकास :

इस तरह, प्राकृत की स्थिति ई० पू० छठी शती से ईसवी की १२वीं शती तक संस्कृत के साथ-साथ समान भाव से पल्लवित-पुष्पित होती हुई परिलक्षित होती है। और, तब यह अस्पष्ट नहीं रह जाता कि प्राकृत स्वतन्त्र रूप से विकसित होने-वाली एक ऐसी जनोपयोगी भाषा रही है, जिसका साहित्य पर्याप्त मौलिक और

---

१. प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; प्र० तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, पृ० ६, १३ तथा १६।

२. प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तथैव, पृ० १७।

समृद्ध रहा है। यही कारण है कि महाकवि राजशेखर जैसे संस्कृतसिद्ध पण्डितों ने भी प्राकृत की भाषिक और साहित्यिक समृद्धि से प्रभावित होकर प्राकृत का 'यत्परो नास्ति' अनुशंसन किया और इसी भाषा में 'कर्पूरमंजरी' जैसे महत्त्वपूर्ण सट्टक की रचना की। साथ ही, प्राकृत के अनेक अधीतियों ने भी संस्कृत को प्राकृत की परिपोषिका या आधारभूमि के रूप में स्वीकार किया। स्पष्ट है कि प्राकृत और संस्कृत दोनों एक दूसरे की पूरक या सहयोगी भाषा के रूप में समादृत होती रही हैं और दोनों ही भाषाएँ दोनों भाषाओं के पण्डितों को मोहित-प्रभावित करती रही हैं। द्वेष या विभेद की जो कुछ गुंजाइश यदा-कदा दिखाई पड़ती रही है, वह भाषिक या साहित्यिक स्तर पर नहीं, अपितु राजनीतिक या धार्मिक दुराग्रह के आधार पर ही मानी जायगी। खासकर, सम्पूर्ण संस्कृत-नाटकों के स्त्रीपात्रों या निम्नवर्गीय पात्रों के कथोपकथनों में प्राकृत का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि संस्कृत जहाँ घर से अन्यत्र की बोलचाल की व्यावहारिक भाषा थी, वहीं प्राकृत घरेलू वाग्व्यवहार की। इसलिए, यह स्वतः स्पष्ट है कि संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ समानान्तर रूप से विकसित होनेवाली एक ही शाखा के दो स्वतन्त्र रूप रहीं और दोनों के भाषिक एवं साहित्यिक तत्त्वों का पारस्परिक आदान-प्रदान समान रूप से होता रहा है। इसलिए, प्राकृत-साहित्य के तात्त्विक अध्ययन के विना संस्कृत-साहित्य का अध्ययन एकांगी ही माना जायगा। सच पूछिए, तो संस्कृत-साहित्य के समानान्तर अध्ययन की परिपूर्णता प्राकृत-साहित्य में प्राप्त तत्त्वों के अध्ययन में ही निहित है।

२. प्राकृत-साहित्य की तात्त्विक उपलब्धियाँ

तत्त्वतः, प्राकृत-साहित्य, सहस्राधिक वर्षों तक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से भारतीय जन-जीवन का प्रतिनिधि-साहित्य रहा है। इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन के अनेक आरोह-अवरोह प्रतिबिम्बित हुए हैं। जहाँ तक भारतीयेतिहास और संस्कृति का प्रश्न है, प्राकृत-साहित्य इन दोनों का निर्माता रहा है। यद्यपि प्राकृत का अधिकांश साहित्य अभी तक अध्ययन-अनुचिन्तन की प्रतीक्षा में है और उसके तथ्यों का तात्त्विक उपयोग इतिहास-रचना में नहीं किया जा सका है, तथापि वर्त्तमान में प्राकृत का जो साहित्य उपलब्ध हो पाया है, उसका फलक संस्कृत-साहित्य के समानान्तर ही बड़ा विशाल है। हम रूपक का सहारा लेकर ऐसा कहें कि प्राकृत और संस्कृत दोनों ऐसी सदानीरा सरिताएँ हैं, जिनकी अनाविल धाराएँ अनवरत एक-दूसरे में मिलती रही हैं। दोनों परस्पर अविच्छिन्न भाव से सम्बद्ध हैं। विधा और विषय की दृष्टि से प्राकृत-साहित्य की महत्ता सर्व-स्वीकृत है। भारतीय लोक-संस्कृति के सांगोपांग अध्ययन या उसके उत्कृष्ट रमणीय रूप-दर्शन का अद्वितीय माध्यम प्राकृत-साहित्य ही है। इसमें उन समस्त लोक-भाषाओं का तुंग तरंग प्रवाहित हो रहा है, जिन्होंने भाषा के आदिकाल से देश के

विभिन्न भागों की वैचारिक जीवन-भूमि को सिंचित कर उर्वर किया है एवं अपनी शब्द-संजीवनी से साहित्य के विविध क्षेत्रों को रसोज्ज्वल बनाया है।

शास्त्रीय दृष्टि से प्राकृत का उद्भव-काल ईसवी-पूर्व छठीं शती स्वीकृत है और विकास-काल सन् १२०० ई० तक माना जाता है। परन्तु, यह भी सही है कि प्राकृत-भाषा में ग्रन्थ-रचना ईसवी-पूर्व छठीं शती से प्रायः वर्त्तमान काल तक न्यूनाधिक रूप से निरन्तर होती चली आ रही है। हालाँकि, प्राकृतोत्तर काल में हिन्दी एवं तत्सहवर्त्तिनी विभिन्न आधुनिक भाषाओं और उपभाषाओं का युग आरम्भ हो जाने से संस्कृत तथा प्राकृत में ग्रन्थ-रचना की परिपाटी स्वभावतः मन्दप्रवाह परिलक्षित होता है। किन्तु, संस्कृत और प्राकृत में रचना की परम्परा अद्यावधि अविकृत और अक्षुण्ण है। और, यह प्रकट तथ्य है कि संस्कृत और प्राकृत दोनों एक दूसरे के अस्तित्व को संकेतित करती हैं। इसलिए, दोनों में अविनाभावी सम्बन्ध की स्पष्ट सूचना मिलती है।

प्राकृत-साहित्य : भारतीय विचारधारा का प्रतिनिधि :

प्राकृत-साहित्य पिछले ढाई हजार वर्षों की भारतीय विचारधारा का संवहन करता है। इसमें न केवल उच्चतर साहित्य और संस्कृति का इतिहास सुरक्षित है, अपितु मगध से पश्चिमोत्तर भारत (दरद-प्रदेश) एवं हिमालय से श्रीलंका (सिंहलद्वीप) तक के विशाल भू-पृष्ठ पर फैली तत्कालीन लोकभाषा का भास्वर रूप भी संरक्षित है। प्राकृत-साहित्य का बहुलांश यद्यपि जैन कवियों और लेखकों द्वारा रचा गया है, तथापि इसमें तद्युगीन जन-जीवन का जैसा व्यापक एवं प्राणवान् प्रतिबिम्बन हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। न केवल भारतीय पुरातत्त्वेतिहास एवं भाषाविज्ञान (अपितु समस्त संस्कृत-वाङ्मय) का अध्ययन एवं मूल्यांकन तबतक शेष ही माना जायगा, जबतक प्राकृत-साहित्य में सन्निहित ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिच्छवियों का, देश और काल के आधार पर, अनुशीलन नहीं किया जायगा। सहज जन-जीवन और सरल जनभाषाओं की विभिन्न विच्छित्तिपूर्ण झलकियों के अतिरिक्त प्राकृत-साहित्य में भारतीय दर्शन, आचार, नीति और धर्म की सुदृढ एवं पूर्ण विकसित परम्परा के दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं, अगर ढूँढ़िए तो, इसमें जटिल-ग्रन्थिल आध्यात्मिक और भौतिक समस्याओं के सुखावह समाधान भी मिल जायेंगे।

प्राकृत में संस्कृत के समानान्तर अध्ययन के तत्त्व :

प्राकृत-साहित्य में साहित्य की विभिन्न विधाएँ—जैसे काव्य, कथा, नाटक, चरितकाव्य, चम्पूकाव्य, दूतकाव्य, छन्द, अलंकार, वार्त्ता, आख्यान, दृष्टान्त, उदाहरण, संवाद, सुभाषित, प्रश्नोत्तर, समस्यापूर्त्ति, प्रहेलिका प्रभृति—पाई जाती हैं। इस साहित्य में प्राप्य कर्मसिद्धान्त, खण्डन-मण्डन, विविध सम्प्रदायों की मान्यताएँ आदि हजारों वर्षों का इतिहास अपने में उपसंहृत किये हुए हैं। जन-जीवन

की विभिन्न धारणाएँ, जीवन-मरण, रहन-सहन, आचार-विचार आदि के सम्बन्ध में अनेक पुरातन बातों की जानकारी के लिए प्राकृत-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन अनिवार्य है। **आचार्य कुन्दकुन्द** के अध्यात्म-साहित्य का अध्ययन वैदिक उपनिषदों के अध्ययन में पर्याप्त सहायक होगा। **कुन्दकुन्दाचार्य** के प्रसिद्धतर ग्रन्थ 'समयसार' के अध्ययन के विना अध्यात्म और वेदान्तशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन अपूर्ण ही माना जायगा। कहना तो यह चाहिए कि भारतीय चिन्तन का सर्वांगपूर्ण ज्ञान, जो संस्कृत-वाङ्मय में निहित है, प्राकृत-साहित्य के ज्ञान के विना एकपक्षीय ही रह जायगा। निष्कर्ष यह कि अन्वेषण और गवेषण के क्षेत्र में प्राकृत-साहित्य एक विराट् कोष ही प्रस्तुत कर देता है।

प्राकृत-साहित्य : भारतीय संस्कृति का मानचित्र :

प्राकृत-साहित्य के अधीती विद्वान् डॉ० **नेमिचन्द्र शास्त्री** के अभिमत[1] के अनुसार, प्राकृत-साहित्य में जहाँ एक ओर ऐहिक समस्याओं का समृद्ध चिन्तन पाया जाता है, वहीं दूसरी ओर पारलौकिक रहस्यपूर्ण समस्याओं के विश्वसनीय समाधान भी मिलते हैं। धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण में प्राकृत-साहित्य की द्वितीयता नहीं है, तो अर्थनीति-राजनीति के विश्लेषण में भी इस साहित्य की एक-मेवता ही सिद्ध होती है। व्यापारिक कौशल के उदाहरण एवं शिल्पकला के मनो-मोहक निखार की दृष्टि से भी प्राकृत-साहित्य की श्रेष्ठता अक्षुण्ण है। प्राकृत-साहित्य लोक-सौन्दर्य के मूल्यांकन के प्रति विशेषाग्रह रखता है, अतएव इसमें मानवता के पोषक तत्त्व दान, तप, शील, सदाचार, सद्भाव आदि का निदेश बड़े मोहक और मौलिक ढंग से आकलित हुआ है। इस विवेचना के आधार पर अगर प्राकृत-साहित्य को भारत के सांस्कृतिक इतिहास का सर्वांगीण मानचित्र कहा जाय, तो अतिशयोक्ति न होगी।

---

१. द्र० प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्र० तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, संस्करण, सन् १९६६ ई०, पृ० ५५६।

अध्ययन १

प्राकृत-प्रबन्धकाव्यों में संस्कृत-प्रबन्धकाव्यों के समानान्तर अध्ययन के तत्त्व

भाषिक आदान-प्रदान :

संस्कृत और प्राकृत-साहित्ये में काव्य-वैभव का तात्त्विक आदान-प्रदान परस्परापेक्ष भाव से हुआ है। संस्कृत के कतिपय प्रबन्धकाव्यों की रचना के मूलाधार यदि प्राकृत-काव्य रहे हैं, तो प्राकृत के विविध प्रबन्ध-काव्यों ने अपनी पृष्ठभूमि संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों को बनाया है। इसीलिए, जबतक प्राकृत के प्रबन्ध-काव्यों के तत्त्वों का अध्ययन नहीं किया जायगा, तबतक संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों का अध्ययन सांगोपांग नहीं हो सकेगा। प्राकृत के ऐतिहासिक काव्यग्रन्थ 'गउडवहो' के रचयिता कविवर **वाक्पतिराज** ने तो कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही नये अर्थ-दर्शन और सन्निवेश-माधुर्यवाली प्रबन्ध-सम्पत्ति यदि कहीं है, तो वह प्राकृत में ही है। समुद्र से निकला हुआ जल जिस प्रकार पुनः समुद्र में ही लौट जाता है, उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत से ही निकलकर विकसित हुई हैं और पुनः सबका समावेश प्राकृत में ही हुआ है।[१] कहना न होगा कि संस्कृत के बहुलांश काव्यों के मूलादर्श प्राकृत-काव्य ही हैं। प्राकृत के प्रबन्ध-काव्यों में चरितकाव्य का स्थान महत्त्वपूर्ण एवं मूर्द्धन्य है। इस सन्दर्भ में यह कहना बहुत औचित्यपूर्ण है कि प्राकृत के चरितकाव्यों से ही संस्कृत में चरितकाव्यों की परम्परा का श्रीगणेश होता है। **विमलसूरि**-रचित 'पउमचरिय' की शैली पर ही संस्कृत में चरितकाव्यों की संरचना की गई है। सच पूछिए, तो चरितकाव्यों के मूलबीज प्राकृत में ही संचित-सुरक्षित हैं।

प्राकृत का बहुमुख विकास :

विशेषतया, संस्कृत-काव्य की चम्पू-विधा का जहाँतक प्रश्न है, उसका विकास शिलालेखों में प्रयुक्त प्रशस्ति-लेखन-शैली की अपेक्षा गद्य-पद्य-मिश्रित प्राकृत-चरितकाव्यों से मानना अधिक तर्कसंगत है। क्योंकि, प्राकृत में चरितकाव्यों को

---

१. णवमत्थ-दंसणं संनिवेससिसिराओ बन्धरिद्धीओ।
अविरलमिणमो आ-भुवणबन्धमिह णवर पययम्मि॥
सयलायो इयं वाया विसन्ति एत्तो य णेन्ति वायाओ।
एन्ति समुद्दं चिय णेन्ति सायराओच्चिय जलाइं॥
—गउडवहो, कविप्रशंसा, ९२-९३।

रोचक एवं रंजक बनाने के निमित्त गद्य और पद्य दोनों का ही प्रयोग किया गया है। गद्य यदि चिन्तन का प्रतीक है, तो पद्य भावना का। एक का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, तो दूसरा हृदय से सम्बद्ध है। **डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री** के शब्दों में, "प्राकृत के कवियों ने अपने कथन की पुष्टि, कथानक के विकास, धर्मोपदेश, सिद्धान्त-निरूपण एवं प्रेषणीयता लाने के लिए गद्य में पद्य की छौंक और पद्य में गद्य की छौंक लगाई है।"[1] संस्कृत में **त्रिविक्रमभट्ट** के 'मदालसाचम्पू' एवं 'नलचम्पू' को ही आदि-चम्पूकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। **आचार्य विश्वनाथ** ने 'चम्पू' की परिभाषा[2] दी है। इनके भी पूर्ववर्त्ती कवि **दण्डी** ने भी चम्पू की परिभाषा प्रस्तुत की है। अनुमान तो यही होता है कि चम्पू के परिभाषाकार उक्त कविर्मनीषी आचार्यों ने निश्चय ही प्राकृत के प्राचीन या पूर्ववर्त्ती चरितकाव्यों को देखकर ही अपनी परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। यथापरिभाषित चम्पू के सटीक उदाहरणों में 'तरंगवई' और 'वसुदेवहिण्डी' जैसी प्राकृत-रचनाओं के नाम हठात् परिगणनीय हैं। 'समराइच्चकहा' और 'महावीरचरियं' भी गद्य-पद्यमिश्रित शैली के उत्कृष्ट उदाहरणों में अन्यतम स्थान रखते हैं।

प्रबन्ध-काव्य के भेद :

अविच्छिन्न भाव से युक्त सुसंगत वर्णन या प्रवचन को 'प्रबन्ध' कहते हैं। प्रख्यात संस्कृत-कोशकार **वामन शिवराम आप्टे** ने साहित्यिक कृति या रचना, विशेषतः काव्यरचना को 'प्रबन्ध' की संज्ञा दी है। इससे स्पष्ट है कि कथा के सातत्य से युक्त कवितामयी ललित रचना ही 'प्रबन्धकाव्य' है। चूँकि, प्राकृत-भाषा ललित और सुकुमार है, इसलिए उसमें प्रारम्भ से ही काव्य-रचना का प्राचुर्य पाया जाता है। प्राकृत के प्रबन्धकाव्यों को हम प्रमुखतया तीन वर्गों में आबद्ध कर सकते हैं : महाकाव्य, खण्डकाव्य और चरितकाव्य। प्रबन्धकाव्य की उक्त तीनों विधाओं का अध्ययन संस्कृत के प्रबन्धकाव्यों के अध्ययन के सन्दर्भ में अनुपेक्षणीय वैशिष्ट्य रखता है।

(क) प्राकृत-महाकाव्य :

विवेचना के क्रम में प्राकृत के महाकाव्यों में शास्त्रीयता-सह-लालित्य इन दो तत्त्वों का संश्लिष्ट रूप स्पष्टतः देखा जा सकता है। प्राकृत में जो महाकाव्य संस्कृत के महाकाव्यों की शैली पर लिखे गये, उनमें शास्त्रीयता के समावेश का अधिक आग्रह दिखाई पड़ता है और ललित प्राकृत-महाकाव्य शास्त्रीयता के व्यामोह से अतिशय आबद्ध न रहकर किंचित् स्वतन्त्र भाव से रसास्वाद के महत्त्व-प्रतिपादन के

---

१. प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तथैव, पृ० ५५४।

२. 'गद्य-पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।'

—साहित्यदर्पण, सर्ग ६, कारिका ३३६।

लिए रचे गये। कुल मिलाकर, शास्त्रीय प्राकृत-महाकाव्य मानवमात्र की रागात्मिका वृत्ति को उद्‌बुद्ध करने की पूर्ण क्षमता रखते हैं, इसलिए इनमें शुद्ध रसात्मकता का अभिनिवेश सहज ही उपलब्ध होता है। कहना न होगा कि शास्त्रीय प्राकृत-महाकाव्य शुद्ध रसात्मक काव्य ही हैं; क्योंकि उनमें 'सर्वकाव्यांग-लक्षणता' विद्यमान रहती है।

प्राकृत के महाकाव्य सामाजिक जीवन के प्रतिनिधि :

प्राकृत के कवियों ने संस्कृत के महाकाव्यों से रूप-विन्यास एवं शैलिपक उत्कर्ष या कलात्मक प्रौढिप्रकर्ष को आयत्त किया है; क्योंकि संस्कृत-महाकाव्यों के उक्त दोनों गुण अपनी मौलिकता से वरेण्य हैं। किन्तु, शृंगार रस की परम सुन्दर व्यंजना का जहाँतक प्रश्न है, प्राकृत-महाकाव्यों की द्वितीयता नहीं है। सच पूछिए, तो शास्त्रीय प्राकृत-महाकाव्य कलात्मक प्रतिभा का दिव्यावदान है। कथा का निरूपण और विस्तार, छन्दोबन्धन, सर्गबद्धता एवं खण्ड-विभक्ति, जीवन के रूप-वैविध्य का समष्ट्यात्मक चित्रण, कथातत्त्व में लोकतत्त्वों का समायोजन, उदात्त-गम्भीर शैली, रमणीयार्थक शब्दों से सुरभित और रसात्मक वाक्यों से विमण्डित काव्यभाषा का विनियोग आदि कतिपय गुणों के पारस्परिक समायोजन की सारस्वत समृद्धि ही शास्त्रीय प्राकृत-महाकाव्यों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती है। शास्त्रीय प्राकृत-महाकाव्य को समग्र सामाजिक जीवन का प्रतिनिधि-काव्य इसीलिए कहा जाता है कि इसमें जातीय गुणों एवं परम्परागत अनुभवों का रसपेशल रूप अपनी सम्पूर्ण विच्छित्ति के साथ प्रतिष्ठित है। देश-कालगत स्वरूप की बाह्य भिन्नता के बावजूद इसके आभ्यन्तरिक मूल्यों, सहज-तरल गुणों एवं साहित्यिक संस्कार की आभा सदाप्रभ बनी रहती है।

महाकाव्य की परिभाषा :

साहित्यदर्पणकार **विश्वनाथ महापात्र** द्वारा निर्दिष्ट 'महाकाव्य' के लक्षण की विवेचना के प्रसंग में 'छाया' (**श्रीरामचरण तर्कवागीश भट्टाचार्य** की 'विवृति' की पूर्त्ति के लिए की गई टिप्पणी) के कर्त्ता **श्रीदुर्गाप्रसाद द्विवेद** (१९७७ विक्रमाब्द) ने काव्य के चार प्रकार के 'प्रसर' (=प्रसार) की ओर संकेत किया है : शास्त्र, काव्य, शास्त्रकाव्य और काव्यशास्त्र।[1] इन चारों प्रसरों में शास्त्रकाव्य, यानी शास्त्रीय काव्य की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए **श्रीद्विवेद** ने कहा है कि "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग के वर्णन से युक्त सर्वोपदेशकारी काव्य ही शास्त्र-

---

१. 'शास्त्रं काव्यं शास्त्रकाव्यं काव्यशास्त्रं च भेदतः।
चतुष्प्रकारः प्रसरः सतां सारस्वतो मतः॥'
—सा० द०, श्रीरामचरण तर्कवागीश-कृत विवृति-समेत, निर्णयसागर प्रेस-संस्करण, सन् १९३१ ई०, परिच्छेद ६, पृ० ३७२।

काव्य है।"[1] **श्रीद्विवेद** ने शास्त्रकाव्य की यह परिभाषा निश्चय ही प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्यों को ध्यान में रखकर की है। क्योंकि, प्राकृत के समस्त महाकाव्यों में मोक्षोपदेश और धर्मतत्त्व की कथा-परिणति यत्र-तत्र-सर्वत्र अवश्य ही रहती है। चूँकि, महत्तत्त्व की उपलब्धि ही काव्यरचना का अभिप्राय हुआ करता है, इसलिए यदि हम ऐसा कहें कि महान् तत्त्व का वर्णन करनेवाला काव्य ही महाकाव्य है, तो असंगत नहीं होगा। और, इस सन्दर्भ में यह भी कहना बहुत दूर तक सही होगा कि प्राकृत-महाकाव्य के रचयिताओं ने संस्कृत के महाकाव्य की परिभाषा-रूढि पर अन्धाधुन्ध भाव से न चलकर पारम्परिक परिभाषाओं में संशोधन और विकास उपस्थापित किया है। कहना न होगा कि संस्कृत-काव्य तकनीकी अधिक हैं, किन्तु प्राकृत-महाकाव्यों में अकृत्रिम सरसता का सहज ही आधिक्य है। हमारे इस कथन की पुष्टि के लिए **विश्वनाथ महापात्र** के महाकाव्य-लक्षण को लिया जा सकता है। क्योंकि, **विश्वनाथ** ने अपनी महाकाव्य-परिभाषा में तकनीकी पक्ष पर जितना अधिक बल दिया है, अन्तरंग गुणों पर उतना ही कम।[2]

संक्षेप में, प्राकृत-महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथाप्रधान उत्कृष्ट काव्यविधा है, जिसमें चतुर्वर्ग की प्राप्ति और धर्मोपदेश के तत्त्वबोध के लिए अलंकृत वर्णन एवं मनोवैज्ञानिक भाव-चित्रण के माध्यम से, सुविन्यस्त, जीवनोन्मेषक एवं रम्य रसपूर्ण कथानक की सांगोपांग अवतारणा की जाती है।

महाकाव्य की महत्ता उसकी दीर्घकायता से नहीं, अपितु तात्त्विक अभिनिवेश की गम्भीरता, भावाभिव्यक्ति की उदात्तता एवं वैचारिक गरिमा की महार्घता से सिद्ध होती है। कायिक गुरुता के समर्थक संस्कृत के महाकाव्यों का अध्ययन निश्चय ही तबतक पूर्ण नहीं माना जायगा, जबतक तात्त्विक गुरुता के समर्थक प्राकृत के महाकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन मनोयोग के साथ नहीं किया जायगा।

प्राकृत-महाकाव्यों के वैशिष्ट्य :

शास्त्रीय प्राकृत-महाकाव्यों के परिप्रेक्ष्य में हम महाकाव्य के वैशिष्ट्यों का इस प्रकार निर्धारण कर सकते हैं कि महाकाव्य में बहुविध घटनाओं का प्रवाह, फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर रहते हुए कथावस्तु की विभिन्न भंगिमाओं—चारियों में नर्त्तनशील रहता है। कथावस्तु का माध्यम युगविशेष के समग्र जीवन के चित्रण के लिए अपनाया जाता है। कथा की चरम परिणति चिन्तन की विभिन्न ऊर्मियों में तरंगित होती हुई भी अन्त में किसी एक महत्तत्त्व में ही समाहित होती है। तद्-युगीन समस्त मानव-मनोदशाओं और सम्पूर्ण सामाजिक कार्यव्यापारों का यथातथ्य प्रत्यंकन ही प्राकृत-महाकाव्यों का महान् उद्देश्य हुआ करता है।

---

१. 'शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायं सर्वोपदेशकृत्।'—तत्रैव।

२. द्र० साहित्यदर्पण, परिच्छेद ६, कारिका ३१२–३२५।

उपर्युक्त विवेचन के परिवेश में यहाँ प्राकृत के कतिपय ऐसे शास्त्रीय महाकाव्यों की चर्चा की जायगी, जिनका तात्त्विक अध्ययन संस्कृत-महाकाव्यों के अध्ययन को समानान्तरता प्रदान करने के निमित्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

सेतुबन्ध :

प्रस्तुत महाकाव्य महाकवि **प्रवरसेन** की प्राकृतनिबद्ध एक उल्लेख्य कृति है। इसका अपर पर्याय 'दसमुहवहो' ('दसमुखवध') है। संस्कृत के काव्यग्रन्थों में जो स्थान 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव', 'मेघदूत' (कालिदास), 'किरातार्जुनीय' (भारवि), 'शिशुपालवध' (घण्टामाघ); 'नैषधीयचरित' (श्रीहर्ष); 'हरविजय' (तालरत्नाकर) 'विक्रमांकदेवचरित' (विल्हण) और 'स्तुतिकुसुमांजलि' (जगद्धर) को प्राप्त है, 'सेतुबन्ध' के लिए भी वही स्थान निर्धारित है। संस्कृत के उक्त काव्यग्रन्थों के अध्ययन के क्रम में 'सेतुबन्ध' का अध्ययन भी अनिवार्य है। साहित्य के लक्ष्यभूत प्राच्य, उदीच्य, प्रतीच्य और दाक्षिणात्य भारतीय मनीषा के प्रतिनिधि कवियों के श्रव्य-दृश्य ग्रन्थों में 'सेतुबन्ध' अपनी पांक्तेयता रखता है।

कथाशिल्प : कथाशिल्प एवं घटना-विकास की दृष्टि से 'सेतुबन्ध' की द्वितीयता नहीं है। यदि तात्त्विक समकक्षता की बात की जाय, तो कोई भी संस्कृत-महाकाव्य इसके समक्ष उन्नीस ही पड़ेगा। रामायण-प्रसिद्ध दो प्रमुख घटनाएँ— सेतु-बन्धन और रावण-वध इसके वर्ण्य विषय हैं। कवि ने समुद्र पर सेतु-रचना का उत्साहपूर्ण एवं विस्तृत चामत्कारिक चित्रण बड़ी तल्लीनता से हृदयहारिणी शैली में किया है, इसलिए इस काव्य की परिणति रावण-वध होते हुए भी, इसकी 'सेतुबन्ध' आख्या ने ही प्रमुखता प्राप्त की और 'दसमुहवहो' नाम गौण पड़ गया। कहना यह कि सेतु-रचना ही इस महाकाव्य के घटना-विन्यास का केन्द्रबिन्दु है। अतएव, 'सेतुबन्ध' नाम की अन्वर्थता कहीं अधिक है। इस महाकाव्य में १२९१ गाथाएँ हैं, जो पन्द्रह आश्वासों में गुम्फित हैं। **अकबर जलालुद्दीन** के सचिव एवं प्रसिद्ध टीकाकार **रामदास भूपति** (१६५२ विक्रमाब्द) ने इस महाकाव्य की वन्दनीय टीका 'रामसेतुप्रदीप' नाम से लिखी है, जिससे टीकाकार का मन्तव्य इस महाकाव्य को एक ओर आख्या 'रामसेतु' से विभूषित करने का भी है। अलवर के कैटलॉग के अनुसार, इसका एक तीसरा नाम 'रावणवध' भी है।

इस महाकाव्य के रचयिता **महाकवि प्रवरसेन** हैं। काव्येतिहास में **प्रवरसेन** की ख्याति ख्यातनामा कवियों में प्रचुर चर्चा का विषय रही है। **बाणभट्ट** ने सगर्व उद्घोषणा भी की है :

कीर्त्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥

(हर्षचरित, १।१४।५)

अर्थात्, प्रवरसेन की कुमुदोज्ज्वल कीर्त्ति, सेतु के द्वारा कपिसेना की भाँति समुद्र के उस पार तक चली गई है। अर्थात्, इसकी ख्याति सीमान्तपारगामिनी है।

रचनाकार : यह एक विचित्र बात है कि ख्यातिलब्ध कवियों की कृतियाँ और काल प्रायः विवादास्पद हुआ करते हैं। 'सेतुबन्ध' के प्रत्येक आश्वास के अन्त में जो पुष्पिका मिलती है, उसमें 'पवरसेन-विरइए' 'प्रवरसेन-विरचिते' के साथ ही 'कालिदासकए' ('कालिदासकृते') पद भी उल्लिखित मिलता है, जिससे पर्याप्त भ्रम की गुंजाइश हो गई है। 'सेतुबन्ध' के टीकाकार **रामदास भूपति** ने तो अपनी टीका के प्रारम्भिक मंगलाचरण में **'यं चक्रे कालिदासः कविकुमुदविधुः सेतुनाम-प्रबन्धम्'** लिखकर इस महाकाव्य का कर्त्तृत्व-श्रेय कालिदास को ही प्रदान कर दिया है, जिससे उक्त भ्रान्ति काफी गम्भिन हो गई है और काव्य-लेखक की स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं रह पाई है। **डॉ० रामजी उपाध्याय** के शोध-प्रबन्ध 'प्राकृत-महाकाव्यों का अध्ययन' के आधार पर हम यह कहने की स्थिति में हैं कि 'सेतुबन्ध' की कई प्राचीन प्रतियों के कतिपय आश्वासों के अन्त में **कालिदास** को इस काव्य के कर्त्ता के रूप में निर्दिष्ट किया गया है, परन्तु इन प्रतियों में **प्रवरसेन** का नाम भी है, जब इनसे इतर कतिपय प्रतियों में केवल **प्रवरसेन** का ही नाम मिलता है। इस स्थिति में यह तो निश्चित है कि 'सेतुबन्ध' का रचयिता **प्रवरसेन** सर्वमान्य है। परन्तु, **कालिदास** नाम के जुड़ जाने से यह भ्रम सम्भव हो गया है कि यह महाकाव्य **कालिदास** की रचना है और **कालिदास** ने **प्रवरसेन** को समर्पित कर दिया है; अथवा **कालिदास** तथा **प्रवरसेन** दोनों ने मिलकर इसकी रचना की है; या **कालिदास** ने **प्रवरसेन** को इसकी रचना में सहायता दी है। **डॉ० उपाध्याय** ने अपने उक्त शोध-प्रबन्ध में **रामदास भूपति** के भ्रम के आधार की सम्भावना को 'कुन्तलेश्वरदौत्य' पर आधृत भ्रामक परम्परा से जोड़ा है। **क्षेमेन्द्र** के अनुसार, 'सेतुबन्ध' की रचना **कालिदास ने विक्रमादित्य** द्वारा **प्रवरसेन** के पास दूत-रूप में भेजे जाने के बाद की है। हालाँकि, **क्षेमेन्द्र** ने अपनी महत्कृति 'औचित्यविचारचर्चा' में 'सेतुबन्ध' के रचयिता के रूप में **प्रवरसेन** को ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त, **कालिदास** और **प्रवरसेन** की प्रगाढ मैत्री भी इस भ्रम को बद्धमूल करती है।

परन्तु, विचारणीय है कि **कालिदास** और **प्रवरसेन** की महामैत्री के बावजूद 'सेतुबन्ध' का जहाँ भी उल्लेख आया है, वहाँ **प्रवरसेन** के साथ **कालिदास** का नाम-कीर्त्तन नहीं हुआ है। **महाकवि दण्डी** ने अपनी प्रथित काव्यशास्त्रीय कृति 'काव्यादर्श' में महाराष्ट्री-प्राकृत की प्रकृष्टता का अनुशंसन करते हुए सिर्फ 'सेतुबन्ध' काव्य का नामोल्लेख किया है, उसके कवि की चर्चा बिलकुल ही नहीं की है :

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥ (१।३४)

महाकवि बाण 'सेतुबन्ध' के रचनाकाल से दूरवर्त्ती नहीं हैं। यदि इस महत्त्वपूर्ण रचना से **कालिदास** का किसी प्रकार का भी सम्बन्ध होता, तो **प्रवरसेन** की सागरपारगामिनी कीर्त्ति का कीर्त्तन करते समय उन्हें **कालिदास** के नामग्रहण

की विस्मृति कैसे हो जाती ? इन प्रसंगों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि 'सेतुबन्ध' के सन्दर्भ में **प्रवरसेन** के साथ **कालिदास** का नाम बाद में जुड़ गया और ऐसा किसी भ्रम के आधार पर ही हुआ। **डॉ० उपाध्याय** का यह तर्क पर्याप्त सबल है कि सम्भवतः **कालिदास** नामक कोई व्यक्ति **प्रवरसेन** के महाकाव्य का लिपिकार रहा होगा और लिपिकार ही धीरे-धीरे ग्रन्थकार की पंक्ति में प्रतिष्ठित हो गया। **म० म० वामन विष्णु मिराशी** ने इस तथ्य की ओर इंगित किया है कि **प्रवरसेन द्वितीय** के पट्टण-ताम्रलेख में उसके लिपिकार का नाम **कालिदास** दिया गया है। बाद की प्रतियों में लिपिकारों ने **कालिदास** लिपिकार को रचयिता होने की गरिमा प्रदान की होगी; और चूँकि यह एक उत्कृष्ट काव्य है, इसलिए बाद में इस **कालिदास** को **महाकवि कालिदास** से अभिन्न मान लिया गया।

रचनाकाल : इस सन्दर्भ में **प्रवरसेन** का काल-निर्णय भी एक स्वतन्त्र विवेच्य विषय है। इतिहास में **प्रवरसेन** नाम के चार राजाओं के राज्यकाल का उल्लेख मिलता है। इनमें दो कश्मीर के हैं और दो दक्षिण के वाकाटक-वंश के। 'राजतरंगिणी' (३।९६–१०१ तथा १०९–१२५) की गणना के अनुसार, कश्मीर के **प्रवरसेन प्रथम** का समय ईसा की प्रथम शती है और **प्रवरसेन द्वितीय** का द्वितीय शती। **डॉ० अल्तेकर**[1] के अनुसार, वाकाटकों का कार्यक्षेत्र विदिशा और विदर्भ है। वाकाटक-वंश के आदिपुरुष **विन्ध्यशक्ति** (उपाधिवाची) के पुत्र **प्रवरसेन प्रथम** ने २७५ से ३३५ ई० तक राज्य किया। इसी **प्रवरसेन प्रथम** ने सम्राट् की उपाधि धारण की थी और इसी सम्राट् ने वाकाटक-राज्य का सम्पूर्ण दक्षिण में विस्तार किया था। **प्रवरसेन प्रथम** की मृत्यु के बाद उसका भ्रातृज **रुद्रसेन प्रथम** (३३५ से ३६० ई०) सत्तारूढ हुआ और उसके बाद उसके पुत्र **पृथ्वीसेन प्रथम** ने राज्य का शासनसूत्र सँभाला। इसी के शासनकाल में कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र) वाकाटक-राज्य में मिलाया गया। **पृथ्वीसेन** के राज्यकाल में ही राजकुमार **रुद्रसेन द्वितीय** ने गुप्तसम्राट् **चन्द्रगुप्त** की पुत्री **प्रभावती** से परिणय-सम्बन्ध स्थापित किया था। **रुद्रसेन द्वितीय** की राज्यावधि केवल पाँच वर्षों की रही। उसकी अकालमृत्यु के बाद **प्रभावती** ने अपने प्रतापी पिता के संरक्षण में अपने पति का राज्यभार वहन किया। सन् ४१० ई० में **प्रभावती** का द्वितीय पुत्र **प्रवरसेन द्वितीय** के नाम से सिंहासनारूढ हुआ। इसका राज्यकाल ४४० ई० तक रहा। वस्तुतः, यही **प्रवरसेन (द्वितीय)** 'सेतुबन्ध' महाकाव्य का रचयिता है।

यह **प्रवरसेन** परम वैष्णव था और वैष्णव होने के नाते इसने विष्णु-अवतार के प्रतीक राम की कथा को अपने महाकाव्य का पृष्ठाधार बनाया। इस आधार पर इस महाकाव्य का रचनाकाल पाँचवीं शती सिद्ध होता है।

---

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य 'वाकाटक गुप्त एज : डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर।

कहना न होगा कि इस महाकाव्य का वातावरण **बाण** की रचनाओं के अधिक निकट है, साथ ही इसके कथानक तथा शैली के निर्वाह से भी यही सिद्ध होता है कि इसकी रचना **कालिदास** के बाद तथा अन्य संस्कृत-महाकाव्यों की पूर्ववर्त्तिनी है। चूँकि; **कालिदास** ई० पूर्व प्रथम शती में हुए थे, इसलिए उनकी और **प्रवरसेन** की समकालिकता भी प्रबन्धकल्पना-मात्र है। निष्कर्षतः, वाकाटक-वंश में उत्पन्न, ईसवी की चौथी-पाँचवीं शती में वर्त्तमान राजा प्रवरसेन ने 'सेतुबन्ध' की रचना की, जो **दण्डी** कवि के स्थितिकाल में पड़ती है; क्योंकि **दण्डी** ने 'काव्यादर्श' में 'सेतुबन्ध' का स्मरण किया है।

कथासार : 'सेतुबन्ध' की कथा 'वाल्मीकीयरामायण' के युद्धकाण्ड पर आधृत है। कथा की व्यापकता की दृष्टि से 'आदिरामायण' की कथा से 'सेतुबन्ध' की कथा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। **डॉ० कामिल बुल्के** अपनी 'रामकथा' में इसकी कथावस्तु की विवेचना के क्रम में लिखते हैं : " 'रावणवह' के पन्द्रह सर्गों (आश्वासों) में वाल्मीकि-कृत युद्धकाण्ड की कथावस्तु का अलंकृत शैली में वर्णन मिलता है। कथानक में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन नहीं किया गया है।" **डा० बुल्के** के अनुसार, 'रावणवह' की एक विशेषता 'कामिनीकेलि' नामक दसवें सर्ग (आश्वास) में राक्षसियों का सम्भोग-वर्णन है, जिसका अनुसरण **कुमारदास** के 'जानकीहरण', **अभिनन्द**-कृत 'रामचरित', **कम्बन**-कृत 'तमिल-रामायण' तथा जावा के प्राचीनतम रामायण आदि में किया गया है। **डॉ० रघुवंश**[1] के अनुसार, **प्रवरसेन** ने 'आदि-रामायण' से कथा लेकर, उसको अपनी कल्पना से अधिक सुन्दर रूप प्रदान किया है। यह प्रभाव कवि ने बहुत साधारण परिवर्त्तनों तथा उद्‌भावनों से उत्पन्न किया है।

निष्कर्ष : कुल मिलाकर, महाराष्ट्री प्राकृत में निबद्ध 'सेतुबन्ध' महाकाव्य साहित्यशास्त्र, विशेषकर अलंकारशास्त्र एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ की दृष्टि से अपनी अभूतपूर्व महनीयता रखता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि **कालिदास**, **अश्वघोष**, **बाण**, **क्षेमेन्द्र**, **दण्डी**, **कुमारदास**, **भामह** आदि संस्कृत के पांक्तेय कृतिकारों की कृतियों के अध्ययन के सन्दर्भ में **प्रवरसेन** के 'सेतुबन्ध' का अध्ययन अनिवार्य है। साथ ही, यह मानना पड़ता है कि **प्रवरसेन** एक ऐसे प्रयोगवादी महाकवि थे, जिन्होंने अपने सहयोगी ही नहीं, पूर्ववर्त्ती महाकवियों की भी संस्कृत-रचनाओं को अतिक्रान्त कर प्राकृत के क्षेत्र में अपनी काव्य-कला के प्रयोग का सफल एवं चकितकर प्रदर्शन किया है। यही कारण है कि 'सेतुबन्ध' की अनुकृति, जैसा पहले कहा गया, अनेक परवर्त्ती संस्कृत-कवियों ने की। कहना न होगा कि विस्मयकारी अलंकार-योजना, प्राणवान् चरित्र-चित्रण, गौरवोद्‌घोषक सांस्कृतिक अभिनिवेश एवं आकर्षक नाटकीय

---

१. सेतुबन्ध (हिन्दी-अनुवाद), प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका, पृ० १४।

कथोपकथन के विन्यास में प्राकृत का यह महाकाव्य संस्कृत के समस्त महाकाव्यों का सुमेरुशिखर बना हुआ है। अतएव, **प्रवरसेन** का, अपनी इस कमनीय-दुष्कर कृति के सम्बन्ध में, यह गर्वोद्‌घोष बड़ा समीचीन है :

अहिणवराआरद्धा चुक्कक्खलिएसु विहडिअपरिट्ठविआ।
मेत्तिव्व पमुहरसिआ णिव्वोढुं होइ दुक्करं कव्वकहा॥ (१।९)

गउडवहो :

सांस्कृतिक-साहित्यिक तत्त्वों से ओतप्रोत प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्यों में कविराज **वाक्पतिराज**-प्रणीत 'गउडवहो' भी शीर्षण्य माना गया है। आर्या छन्द में निबद्ध यह एक ऐतिहासिक मूल्य रखनेवाला प्राकृत का देदीप्यमान काव्यरत्न है। इस काव्य का अध्ययन भी संस्कृत-काव्यों के अध्ययन के सन्दर्भ में अपनी अनिवार्यता रखता है। चित्त को चमत्कृत करनेवाली शैली में उपन्यस्त इस प्राकृत-काव्य के प्रकाश में ही **भास**, **कालिदास**, **सुबन्धु भवभूति**, **हरिश्चन्द्र** आदि कवियों के संस्कृत-काव्यों का सही एवं सांगोपांग अध्ययन किया जा सकता है। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के अधिपति **यशोवर्मा** द्वारा गौडदेश[1] के किसी राजा का वध ही इस विच्छित्तिपूर्ण काव्य का मूल कथ्य है। गौडराजा का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है। **यशोवर्मा** की स्तुति के सन्दर्भ में उसके खड्‌ग की प्रशंसा करते हुए कवि ने केवल 'गौडगलच्छेद' का उल्लेख किया है :

तुह धारा-संसाणिअ-गइन्द-मुत्ताहलो असी जयइ।
गउड-गलच्छेदअ-वलग्ग संठिएआवली ओव्व॥ (गा० ११६४)

महाराष्ट्री प्राकृत की कुल १२०९ गाथाओं या आर्याओं में आबद्ध इस काव्य में चरितनायक के प्रति कवि की प्रशंसामुखर आदर्शवादिता, ऐतिहासिक समसामयिकता-बोध की वर्णनविपुलता और प्राकृतिक चित्रण की प्राणवत्ता का त्रिवृत्त्यात्मक संयोजन है। प्राकृत के कवियों द्वारा अपने-अपने काव्यों के प्रस्तुतीकरण में अन्तरंग और बहिरंग कथाशिल्प की जो स्थापना की गई है, उसमें नव्यवादिता का आग्रह सुस्पष्ट दिखाई पड़ता है। अर्थात्, शिल्प और भाव की दृष्टि

---

१. आधुनिक पश्चिम बंगाल ही पुराकाल में 'गौडदेश' के नाम से प्रख्यात था। तत्कालीन वंगसम्राट् लक्ष्मणसेन के नाम पर प्रतिष्ठित नगरी लक्ष्मणावती (आधुनिक लखनौती) गौडदेश की राजधानी थी। गौडों का मगध के पूर्वी भाग में शासन था। कन्नौज के राजा यशोवर्मा ने गौडवध के बाद विजयसूचक एक ताम्रलेख भी नालन्दा में लिखवाया था, जो 'नालन्दा-ताम्रलेख' के नाम से पुरातत्त्वेतिहास में प्रसिद्ध है। नालन्दा-ताम्रलेख के लिए द्रष्टव्य : 'बौद्धधर्म और बिहार' : पं० हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय', प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-४।

से प्राकृत के कवि कुछ नया कहना और कुछ नया दिखाना चाहते हैं। संस्कृत-काव्यों की वर्णन-परम्परा में प्राकृत-कवियों ने संशोधन और विकास लाने की चेष्टा बराबर की है। **वाक्पतिराज** ने भी **भवभूति** के काव्योत्कर्ष की प्रभा से भास्वर अपने इस काव्य की स्वीकृत कथावस्तु में भावों को वर्णन की अभिनव भंगिमाएँ तो दी ही हैं, ग्रन्थ का विभाजन भी तथाप्रथित सर्गों या परिच्छेदों में न करके 'कुलकों' में किया है। सर्वाधिक बृहत् कुलक १५० आर्याओं का है और सबसे छोटा कुलक पाँच आर्याओं का। प्राकृतिक वैभव, अलंकृत सुन्दर पद-विन्यास, उत्प्रेक्षाओं का अतिनूतन संयोजन आदि काव्यगुणों के उत्कर्ष से, निस्सन्देह, यह काव्य अतिशय श्लाघ्य और उदात्त बन गया है। और, अपनी उदात्त एवं अलंकृत शैली के कारण ही इस काव्य ने शास्त्रीय महाकाव्य की गरिमा आयत्त कर ली है। इस प्रसंग में शिव के मस्तक पर विराजित चन्द्रमा के निमित्त कविराज वाक्पति की पैनी सूझ-बूझ की एक झाँकी द्रष्टव्य है :

तं णमह कामणेहा अज्जबि धारेइ जो जडाबद्धं।
तइअ णयणग्गि-णिवडय-कय-ववसायं पिव मियंकं ॥ (गाथा ३०)

अर्थात्, शिवजी ने अपने तीसरे नयन से कामदेव को दग्ध कर दिया है। मित्र की दुरवस्था देखकर चन्द्रमा दुःखी है और स्वयं अपने मित्र के स्नेहवश शिव के तीसरे नेत्र में कूदने को उद्यत है। इस व्यवसाय से रोकने के लिए ही मानों शिवजी ने उसे (चन्द्रमा को) अपनी जटाओं से कसकर बाँध रखा है।

वसन्त-वर्णन के क्रम में कवि की एक अपूर्व अभिराम उत्प्रेक्षा द्रष्टव्य है :

इह सोहन्ति-दरभिल्ल-किसलयायम्बिरच्छि बत्ताइं।
पाविय - पडिबोहाइंव सिसिर-पसुत्ताइं रण्णाइं ॥

अर्थात्, वसन्त ऋतु में वृक्षों की नई कोपलें ताम्ररंग से मनोहर प्रतीत हो रही हैं। इससे ऐसा लगता है, जैसे शिशिर में सोये जंगल वसन्त में एकबारगी जग गये हैं और कोंपलों की आँखें खोलकर इधर-उधर ताक रहे हैं। नई कोंपलें क्या हैं, मानों जगे हुए जंगलों की लाल-लाल आँखें हैं।

रचनाकार : प्रकृति-सौन्दर्य के आराधक कवि **वाक्पतिराज** का समय **आचार्य बलदेव उपाध्याय** के मतानुसार, ईसवी की आठवीं शती का पूर्वार्द्ध है।[1] किन्तु, **दुर्गाप्रसाद द्विवेद** ने टिप्पणी करते हुए इसका समय ईसवी सातवीं शती का उत्तरार्द्ध निर्धारित किया है।[2] यह तो विचिकित्सा-विहीन तथ्य है कि 'कविराज' के लांछन

---

१. द्र० संस्कृत-साहित्य का इतिहास, प्र० शारदा-मन्दिर, काशी; संस्करण सन् १९४८ ई०, पृ० १८९।

२. साहित्यदर्पण, निर्णयसागर प्रेस-संस्करण, सन् १९३१ ई०, भूमिका, पृ० ५९ की छाया (टिप्पणी)।

से युक्त **वाक्पतिराज (बप्पइराअ)** अपने काव्य के नायक तथा आश्रयदाता राजा **यशोवर्मा** का समकालीन था एवं **यशोवर्मा** के सभाकवियों में इसका दूसरा स्थान था। **'राजतरंगिणी'**[1] के अनुसार, **'उत्तररामचरित'** जैसे प्रसिद्ध करुण नाटक का विख्यात लेखक **भवभूति** भी कान्यकुब्जेश्वर **यशोवर्मा** के सभाकवियों में अन्यतम स्थान रखता था। इससे स्पष्ट है कि **वाक्पतिराज भवभूति** (ई० ७-८वीं शती) का समकालीन था। प्रसंग भी है :

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवित: ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्‌गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

इसके अतिरिक्त, **वाक्पतिराज** द्वारा 'गौडवध' की गाथा ७९९ में उल्लिखित 'भवभूति' शब्द से भी इसकी **भवभूति** से समकालिकता सिद्ध होती है। गाथा है :

भवभूइजलहि-निग्गय-कव्वामय-रसकणा इव फुरन्ति ।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहा-णिवेसेसु ॥

इस गाथा में प्रयुक्त 'अज्जवि' ('अद्यापि') शब्द संकेतित करता है कि **भवभूति वाक्पतिराज** का वृद्ध-समकालीन था और **यशोवर्मा** के राज्यकाल में उसकी कविता **वाक्पतिराज** की कविता से पहले ही प्रसिद्ध हो चुकी थी। इसीलिए, **वाक्पतिराज** ने उक्त गाथा में **भवभूति** के काव्य का प्रभावस्पर्श ग्रहण करने के निमित्त उसके प्रति विनम्र आभार-प्रदर्शन किया है।

रचनाकाल : डॉ० स्टीन के मतानुसार, एवं **कल्हण** की 'राजतरंगिणी' के अन्तस्साक्ष्य के आधार पर यह प्रमाणित है कि कश्मीर के राजा **ललितादित्य मुक्ता-पीड** ने कन्नौज के राजा **यशोवर्मा** को पराजित कर अपना वशंवद बनाया था। यह घटना सन् ७३६ ई० के आसपास की है। **वाक्पतिराज** ने 'गउडवहो' काव्य में **यशो-वर्मा** की कीर्त्तिकथा का कीर्त्तन किया है। ज्ञातव्य है कि यह काव्य अपूर्ण ही रह गया है। इससे यह अनुमान होता है कि **वाक्पतिराज** ने **यशोवर्मा** के विजयकाल में इस काव्य की रचना प्रारम्भ की थी, किन्तु समकालीन राजा **ललितादित्य** द्वारा **यशो-वर्मा** के पराजित होने पर इसे अपूर्ण ही छोड़ दिया। चूँकि **ललितादित्य** का समय सन् ७२४ से ७६० ई० तक माना जाता है, इसलिए **वाक्पतिराज** सन् ७६० ई० के आसपास वर्त्तमान होने का जो अनुमान **डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री**[2] ने किया है या **डॉ० जगदीशचन्द्र जैन**[3] ने जो **वाक्पतिराज** के स्थितिकाल को सन् ७५० ई० में माना है, वह असंगत नहीं प्रतीत होता। परन्तु, 'गउडवहो' की ८२९वीं गाथा में

---

१. राजतरंगिणी, ४। १३४।

२. प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (तथैव), पृ० २७५।

३. प्राकृत-साहित्य का इतिहास, प्र० चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी-१, प्रथम संस्करण, सं० २०१८ वि०, पृ० ५८९।

सूर्यग्रहण[1] का संकेत मिलता है। **डॉ० याकोबी** ने इस सूर्यग्रहण का काल १४ अगस्त, ७३३ ई० निश्चित किया है। इसलिए, 'गउडवहो' की रचना इसी समय हुई होगी। इससे **आचार्य बलदेव उपाध्याय** की खृष्टाब्द अष्टम शतक के पूर्वार्द्ध में **वाक्पतिराज** के विद्यामन होने की बात भी यथार्थ से दूर नहीं है। उपर्युक्त काल-विवेचन से यह निर्णीत है कि कविराज **वाक्पतिराज** का काल ईसा की आठवीं शती है।

आठवीं शती के इस विदग्ध एवं पण्डित कवि की 'महुमहविअअ' ('मधुमथ-विजय') नामक एक दूसरी काव्यकृति की भी सूचना मिलती है। परन्तु, यह दुष्प्राप्य है। इस काव्य का उल्लेख अभिनवगुप्त के 'ध्वन्यालोक' (१५२।१५) तथा हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' की 'अलंकारचूडामणिवृत्ति' (१।२४।८१) में हुआ है। कहने की अपेक्षा नहीं होगी कि रचना की विरलता के बावजूद अप्रतिम प्रतिभा से सम्पन्न एवं लोकप्रतिष्ठ इस कवि ने सम्पूर्ण काव्यसमुद्र में अपने वैदुष्य का कभी न झुकनेवाला पोतध्वज फहरा दिया है।

निष्कर्ष : संस्कृत-महाकाव्यों के अध्ययन के क्रम में इस प्राकृत-महाकाव्य के अध्ययन की अनिवार्यता इसलिए है कि **प्रवरसेन** की तरह **वाक्पतिराज** ने भी संस्कृत-महाकाव्यों के प्रणयन के युग में बड़े ही बेजोड़ ढंग से प्राकृत-काव्य की रचना की। इस काव्य के ऋतु-सौन्दर्य एवं प्रकृति-वैभव के चित्रण की पद्धति संस्कृत-काव्य की शैली से प्रभावित होकर भी विशिष्ट है। संस्कृत के न्यायशास्त्र, छन्द, पुराणेतिहास आदि विषयों को अपने विशिष्ट ग्रन्थ के समस्त सन्दर्भों और आयामों के साथ महिमा-मण्डित करनेवाले इस युगकवि ने भारतीय इतिहास के एक प्रमुख अध्ययन-पक्ष को उज्ज्वल कल्प प्रदान किया है।

संस्कृत की परिप्रेक्ष्यता के बावजूद, **वाक्पतिराज** के नाद-सौन्दर्य की ओज-स्विता या शब्दों के सुप्रयोग की विलक्षणता में अर्थसूक्ष्मता का हृदयहारी अन्तरंग दर्शन होता है। **वाक्पतिराज** शब्द-शिल्पी है। यद्यपि इसने संस्कृत-कवियों की विषय-वस्तु, सन्दर्भ-शैली और वाग्भंगिमा का निस्संकोच भाव से उपयोग किया है, तथापि इसकी शिल्प-चेतना भिन्न है।

सच पूछिए, तो संस्कृत और प्राकृत-महाकाव्यों की विभाजक रेखा अधिक स्पष्ट नहीं है। इसीलिए, संस्कृत-काव्य के अध्ययन की सांगता के लिए प्राकृत-काव्य का अध्ययन अनिवार्य है। संस्कृत की सांस्कृतिक चेतना के आधार पर प्राकृत-महाकाव्य-रचयिताओं में **प्रवरसेन** ने जहाँ संस्कृत के रामकाव्य को नई भाव-भूमि दी, वहाँ **वाक्पतिराज** ने भारतीय इतिहास के साहित्यिक चिन्तन के लिए रमणीय रचना का संस्कार जागरित किया।

---

१. रोस-धुय-चलण-तेलोक्क-लच्छि-विच्छूढ-णेउरच्छायं।
विवराह-केउभिण्णं रविबिम्बं वियलइ नहम्मि॥ (गा० ८२९)

कुमारपालचरित :

ग्यारहवीं-बारहवीं शती के प्रसिद्ध वैयाकरण जैनाचार्य **हेमचन्द्र** द्वारा रचित 'कुमारपालचरित' संस्कृत के समानान्तर अध्ययन के तत्त्व की सम्पन्नता की दृष्टि से प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्यों में अन्यतम स्थान रखता है। इस काव्यकृति का अपर पर्याय 'द्व्याश्रय-काव्य' भी है। इसमें कुल आठ सर्ग हैं। प्रथम में अणहिल्ल-नगर का वर्णन है और द्वितीय में व्यायाम के प्रकार बताये गये हैं। तृतीय में काव्य का चरितनायक राजा **कुमारवाल** (कुमारपाल) उद्यान-क्रीडा के लिए जाता है और चतुर्थ सर्ग में ग्रीष्मकालीन जलक्रीडा वर्णित है। पंचम में वर्षा, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं का वर्णन है और षष्ठ में चन्द्रोदय को चामत्कारिक ढंग से वर्णित किया गया है। सप्तम में सोकर उठने के बाद वह (कुमारपाल) परमार्थ की चिन्ता करता है तथा अष्टम में श्रुतदेवी का उपदेश है। व्याकरण, कोश एवं छन्द के प्रकाण्ड पण्डित कवि ने कथाव्याज से आरम्भ के छह सर्गों में महाराष्ट्री-प्राकृत के नियमोदाहरण दरसाये हैं और शेष दो सर्गों में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश के उदाहरणों को उद्भावित किया है। यह प्राकृत का काव्य भट्टिकाव्य का समवर्त्ती है। **भट्टि कवि** ने काव्य के द्वारा अष्टाध्यायी का ज्ञान कराने के निमित्त जिस प्रकार 'भट्टिकाव्य' की रचना की, उसी प्रकार **हेमचन्द्र** ने 'सिद्धहैमव्याकरण' के समस्त नियमों को 'कुमारपालचरित' में ललित काव्य के माध्यम से उपस्थापित किया है। व्याकरण का काव्यात्मक विन्यास करनेवाले ऐसे काव्यों को यदि 'ललित व्याकरण' कहा जाय, तो असंगत नहीं होगा।

हेमचन्द्र का यह काव्य मूलतः दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में सिद्धहैमव्याकरण के सात अध्यायों में उल्लिखित संस्कृत-व्याकरण के नियमों को विवेचित करने के प्रसंग-माध्यम से सोलंकी-वंश के **मूलराज** से प्रारम्भ करके जैन-धर्मोपासक **कुमारपाल** तक के इतिहास का कुल बीस सर्गों में वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् द्वितीय भाग के आठवें अध्याय में उल्लिखित प्राकृत-व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करते हुए राजा **कुमारपाल के** चरित का कुल आठ सर्गों में वर्णन-वैविध्य को विस्तार दिया गया है। इस प्रकार, इस काव्य के द्वारा दुहरे उद्देश्य की सिद्धि होती है, अर्थात् एक ओर **कुमारपाल** के चरित का वर्णन और दूसरी ओर संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण का विश्लेषण। इससे इस काव्यकृति की 'द्व्याश्रय-काव्य' अभिधा अन्वर्थ हो जाती है। संस्कृत-द्व्याश्रय के टीकाकार **अभयतिलकगणी** और प्राकृत-द्व्याश्रय के टीकाकार **पूर्णकलशगणी** हैं।

रचनाकार : 'कुमारपालचरित' के कर्त्ता **आचार्य हेमचन्द्र** ने ईसवी की ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध और बारहवीं शती के पूर्वार्द्ध को अपने जन्म से सनाथ किया है। **डॉ० जगदीशचन्द्र जैन** के 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास' के अनुसार, **हेमचन्द्राचार्य** सन् १०८८ ई० में इस धराधाम पर अवतरित हुए थे और 'प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' के लेखक **डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री** के

अनुसार, **हेमचन्द्र** सन् ११४५ ई० में कार्त्तिकी पूर्णिमा को गुजरात के 'धुन्धुका' नामक ग्राम में आविर्भूत हुए । सम्प्रति, 'धुन्धुका' गाँव अहमदाबाद से उत्तर-पश्चिम में ६२ मील की दूरी पर भाधर नदी के तट पर अवस्थित है । **हेमचन्द्र** के पिता मोढ़कुल के शैवधर्मी वणिक् थे, जिनका नाम 'चाचदेव' या 'चाचिगदेव' था एवं माता का नाम 'पाहिनी' था । **हेमचन्द्र** का, बचपन का नाम **चांगदेव** था। आठ वर्ष की अवस्था में दीक्षा प्राप्त करने के बाद यह **चांगदेव** से **सोमचन्द्र** हो गये । इन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा के द्वारा न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, छन्द, आगम आदि ग्रन्थों का अध्ययन अल्प समय में ही पूरा कर लिया । इक्कीस वर्ष की अवस्था (वि० सं० ११६६) में इन्हें सूरि-पद प्रदान किया गया और इनका नाम **सोमचन्द्र** के स्थान पर **हेमचन्द्र सूरि** कर दिया गया ।

अणहिल्लनगर के राजा 'कुमारपाल' के साथ **हेमचन्द्र** का गुरु-शिष्य का सम्बन्ध था । इन दोनों के इस सम्बन्ध को **चाणक्य** और **चन्द्रगुप्त** के सम्बन्ध के आलोक में अधिक अच्छी तरह देखा जा सकता है । **हेमचन्द्र** योगी पुरुष थे । इन्होंने सात वर्ष पहले ही **कुमारपाल** के द्वारा राज्य प्राप्त करने की भविष्यवाणी की थी । विक्रमाब्द ११६४ की मार्गशीर्ष कृष्ण-चतुर्दशी को **कुमारपाल** का राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ ।

आचार्य हेमचन्द्र की साहित्य-साधना विश्व के सीमान्त का स्पर्श करनेवाली है । पाश्चात्य विद्वानों ने इनकी विस्मयकारिणी मनीषा पर मुग्ध होकर इन्हें 'ज्ञान का महासागर' कहा है । अपने 'सिद्धहैम' जैसे पाँच हजार सूत्रोंवाले व्याकरण पर इन्होंने छह हजार श्लोकों में लघुवृत्ति और अट्ठारह हजार श्लोकों में बृहद्वृत्ति लिखी है । हालाँकि, बृहद्वृत्ति केवल सात ही अध्यायों पर प्राप्त है । आठवें अध्याय की बृहद्वृत्ति प्राप्त होने पर तो श्लोकों की संख्या अट्ठारह हजार से भी आगे बढ़ जायगी ।

व्याकरण के विचक्षण पण्डित **हेमचन्द्र** के काव्यात्मक संस्कार की अद्भुत विलक्षणता को देखकर कोई भी विस्मयविमूढ हो सकता है । इन्होंने अपने 'त्रिषष्ठि-शलाकापुरुषचरित' द्वारा चरित-काव्य को एक नया आयाम दिया है, तो 'काव्यानु-शासन' द्वारा अलंकारों का नव्य संयोजन किया है । 'प्रमाणमीमांसा' लिखकर न्याय की अन्तरंग परीक्षा की है, तो 'अभिधानचिन्तामणि', 'अनेकार्थसंग्रह', 'निघण्टु' और 'देशीनाममाला' की रचना करके भारतीय कोश-साहित्य पर प्रकाम उद्ग्रीव होने का अवसर दिया है । योग पर 'योगशास्त्र' का प्रणयन कर जहाँ इन्होंने अपने अचिन्त्य योगबल का व्याख्यान किया है, वहीं स्तोत्रों पर 'द्वात्रिंशिकाएँ' लिखकर अपनी लोकोत्तर भक्ति को अनुभूति की मार्मिक तीव्रता के धरातल पर प्रतिष्ठित किया है । यह कहना अनावश्यक होगा कि सारस्वत क्षेत्र के विभिन्न स्थलों पर **हेमचन्द्र** की उद्भावनात्मक प्रतिभा के दर्शन होते हैं ।

वैशिष्ट्य : 'कुमारपालचरित' महाकाव्य का कथाफलक यद्यपि छोटा है, तथापि तरल भाव-विन्यास, अलंकार-सम्पन्नता, शब्द-सम्पत्ति, व्यवस्थित अर्थयोजना, स्वच्छन्द प्रेम की निर्बन्धता, अनुभूति की अन्तरंगता एवं अभिव्यक्ति की सहज मार्मिकता, रस-विदग्धता, भणिति-भंगिमा आदि की दृष्टि से यदि इसे हम 'प्रबन्ध-शतायते' कहें, तो अयुक्त नहीं होगा। **कालिदास** का 'मेघदूत' भी कथाफलक की लघुता के बावजूद अपनी भावनिधि एवं व्यथाबोध की तन्मय मूर्च्छना की आन्तरिक व्यापकता के कारण महाकाव्यत्व के गौरव का आस्पद माना जाता है। जो हो, **हेमचन्द्र** का 'कुमारपालचरित' काव्योत्कर्ष की सिद्धि की दृष्टि से समग्र काव्य-वाङ्मय के लिए क्रोशशिला की तरह है।

'मेघदूत' के अन्तरंग रसबोध की समता के लिए 'कुमारपालचरित' की निम्नांकित दो गाथाएँ उदाहरणस्वरूप हैं। अलंकृत शैली में चन्द्रोदय का प्रसंग है :

साहसु कीए रत्तो बोल्लसु अन्नावि किं पिआ तुज्झ।
संघसु किमहं मुक्का चवसु मए किं कयं विलिअं॥ (६।२)

कोई अनुरागवती अपने अनुरक्त से पूछती है : बताओ, अन्य स्त्री में आसक्त हो क्या? बताओ, क्या मुझे छोड़ अन्य कोई भी तुम्हारी प्रिय-वल्लभा है? बताओ, क्या मुझे तुमने त्याग दिया है? बताओ, मैंने कौन-सा अपराध किया है?

न बुहुक्खिओ विचक्को निय-छाहिँ निअवि णीरवीअ बिसं।
निअ-पक्ख-वीजणेहिं वोज्जन्तो घरणि-सङ्का ए॥ (६।५)

अर्थात्, चक्रवाक अपनी छाया को पत्नी समझकर संगम-सुख में निमग्न हो गया और भूखा होने पर भी मृणालदण्ड को खाना भूल गया।

उक्त गाथाओं में 'मेघदूत' की यक्षिणी और यक्ष की विरहोन्मत्त दशा का भावसाम्य सहज प्राप्य है। **कालिदास** के यक्ष-यक्षिणी की भाँति **हेमचन्द्र** भी उच्छल आकुलता और भावोन्माद के प्रतिमान-प्रस्तुतीकरण में पर्याप्त पटु प्रतीत होते हैं।

निष्कर्ष : उपरिविवेचित तीनों प्राकृत-महाकाव्यों में संस्कृत के प्रभावस्पर्श को एक अभिनव काव्यस्फूर्त्ति के माध्यम से विकसित करने का प्रयास स्पष्ट है। **राजशेखर** की 'काव्यमीमांसा' प्रमाणित करती है कि राजसभाओं में संस्कृत और प्राकृत-कवियों का प्रवेश साथ-साथ हुआ। **राजशेखर** ने कविसभा का विधान करते हुए लिखा है कि राजा मध्यस्थ का स्थान ग्रहण करे। उसके उत्तर में संस्कृत के कवि, पूर्व में प्राकृत के कवि और पश्चिम में अपभ्रंश के कवियों का स्थान होना चाहिए। इसलिए, भाषा-निवेश की दृष्टि से भी संस्कृत-साहित्य के अध्ययन के लिए प्राकृत, साथ ही अपभ्रंश-भाषाओं के साहित्यों का भी अध्ययन आवश्यक है। क्योंकि, प्राकृत-अपभ्रंश-काव्यों में भी संस्कृत-काव्यों जैसी प्रभविष्णुता है, विप्रलम्भ-शृंगार की अतिरंजित व्यंजना है और परिपुष्ट परम्परा है षड्ऋतु-वर्णन की। निश्चय ही, प्राकृत-के कवि सशक्त हैं और प्रौढ है उनकी अभिव्यंजना। उस समय

के कवि समान रूप से अपभ्रंश, प्राकृत और संस्कृत में अपनी रचनाएँ करते थे। इसलिए, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—इन तीनों भाषाओं के काव्यों का जबतक समग्रात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन नहीं होगा, तबतक भारतीय साहित्य के इतिहास में सन्तुलित एवं सर्वांगीण भावात्मक एकता की साधना का सही चित्र नहीं उभर पायगा।

'सेतुबन्ध', 'गउडवहो' और 'कुमारपालचरित' प्राकृत-महाकाव्य-शरीर को धारण करनेवाली त्रिकास्थि हैं। इनमें 'सेतुबन्ध' तो मेरुदण्ड की तरह प्रतिष्ठित है। इन तीनों के अतिरिक्त 'लीलावइ' (लीलावती), 'सिरिचिंधकव्व' (श्रीचिह्न-काव्य), 'सोरिचरित' (शौरिचरित), 'हरिविजय', 'रावणविजय', 'विसमबाणलीला' (विषमबाणलीला) आदि काव्यों की गणना प्राकृत-महाकाव्यों में होती है।

उक्त छह काव्यों में अन्तिम तीन काव्य (हरिविजय, रावणविजय और विसमबाणलीला) 'महुमहविअअ' की तरह अनुपलब्ध हैं। **डॉ० जगदीशचन्द्र जैन** के 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास' (पृ० ५६४-५६५) के अनुसार, 'हरिविजय' की रचना **सर्वसेन** नामक कवि ने की थी। यह कृति भी 'उल्लिखित'[1] रूप में प्राप्त है। **हेमचन्द्र** के 'काव्यानुशासन' की 'अलंकारचूडामणि' (पृ० १७१, ४६१) और 'विवेक' (पृ० ४५८, ४५९) नाम की टीकाओं में 'रावणविजय', 'सेतुबन्ध', 'शिशुपालवध', 'किरातार्जुनीय' आदि के साथ इसका उल्लेख-मात्र है। **आनन्दवर्द्धन** के 'ध्वन्यालोक' (३।१२७) तथा **भोज** के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भी इसका उल्लेख है।

'रावणविजय' का भी **हेमचन्द्र** ने 'काव्यानुशासन' की टीका 'अलंकारचूडामणि' (पृ० ४५६) में उल्लेख-मात्र किया है। 'विसमबाणलीला' का प्रणयन **आनन्दवर्द्धन** ने किया है। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' में (२।१११; ४।२४१) इस कृति का उल्लेख करते हुए 'विसमबाणलीला' की एक प्राकृत-गाथा उद्धृत की है। **आचार्य हेमचन्द्र** ने भी 'काव्यानुशासन' की टीका 'अलंकारचूडामणि' (पृ० ८१) में 'महुमहविअअ' के साथ 'विसमबाणलीला' की एक प्राकृत-गाथा का उद्धरण दिया है।

लीलावइ :

उपर्युक्त 'लिखित' महाकाव्यों में 'लीलावइ', जिसका उल्लेख 'दिव्यमानुषी कथा' के नाम से उपलब्ध है, प्रेमाख्यानक-महाकाव्य है। नैष्ठिक ब्राह्मण **बहुलादित्य**

---

१. ख्यातनामा तन्त्रकार महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराजजी ग्रन्थों को तीन कोटि में विभक्त करते हैं : हस्तलिखित, लिखित और उल्लिखित। 'हस्त-लिखित' प्राचीन पाण्डुलिपियाँ हैं, 'लिखित' में मुद्रित ग्रन्थ परिगणित हैं और 'उल्लिखित' वे ग्रन्थ हैं, जिनके नामों का विभिन्न ग्रन्थों में, प्रसंग के रूप में केवल उल्लेख-मात्र पाया जाता है। (लेखक की पुण्यपाद कविराजजी से हुई एक भेंटवार्त्ता के आधार पर)

के **पौत्र** तथा **भूषणभट्ट** के पुत्र **कौतूहल** (कोऊहल) ने इसकी रचना की है। **कौतूहल** का समय ईसवी ९वीं शती अनुमित किया जाता है। क्योंकि, ९वीं शती के ध्वनि-वादी आचार्य **आनन्दवर्द्धन** ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'ध्वन्यालोक' में इनकी नामचर्चा की है। इसके अन्तरंग का संयोजन 'कादम्बरी' जैसे संस्कृत-गद्यकाव्य तथा 'समरा-इच्चकहा' जैसे प्राकृत-गद्यकाव्य के शिल्प से प्रभावित है। 'लीलावइ' से ही प्रेमा-ख्यानक-शैली के काव्यों का विकास माना जाता है।

महाराष्ट्री-प्राकृत (मरहट्ठ-देसिभासा) में निबद्ध इस प्रेमाख्यानक-काव्य में प्रतिष्ठान के राजा **सातवाहन** और सिंहलदेश की राजकुमारी **लीलावती** की प्रेमकथा का भावव्यंजक रसमय वर्णन है। अनुष्टुप् छन्द में आबद्ध इसकी गाथाओं की संख्या १८०० है। कतिपय प्रसंग गद्य में भी निबद्ध हैं। **डॉ० जगदीशचन्द्र जैन** के अनुसार, इस काव्य का रचनाकाल ईसा की आठवीं शती है। कुल मिला-कर, इस काव्य का और इसके कर्त्ता का काल अनुमान की बैसाखी के सहारे ही टिका हुआ है।

रचना-विधान की दृष्टि से 'लीलावइ' एक समृद्ध काव्य है। इसमें वचन की वक्रता है, तो भाषा का चमत्कार भी। वैचारिक स्पष्टता की मार्मिकता है, तो विषयगत संगति और संघटन की संश्लिष्टता भी। दृश्यात्मक संयोजन, रूप-बिम्ब और क्रिया-व्यापार के गत्यात्मक चित्र तो इस काव्य को शैल्पिक विशिष्टता प्रदान करते हैं। वीर और श्रृंगार का सन्तुलित विनियोग इसकी महत्ता को व्यापक प्रतिमान प्रदान करता है।

यह एक संयोगान्त काव्य है। **डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री** ने इसे 'मिश्रित शास्त्रीय महाकाव्य' कहा है। इसमें प्रेम की तीव्रता और रसबोध के नूतन अभिनिवेश की स्थापना की आधारशिला बड़ी पुष्ट है। 'लीलावइ' का कवि प्रेम की दृढता की कठिन परीक्षा के पश्चात् ही वैवाहिक बन्धन की चिरस्थिरता का समर्थक है। सरस संवाद-शैली में कथ्य का आरोह-अवरोह बड़ा ही रसोत्पादक बन पड़ा है। मार्मिक स्थलों पर कवि ने बहुत ही अनुभूति-प्रवण होकर अपनी लेखनी से लालित्य की मधु-वर्षा की है। निष्कर्षतः, प्रेमाख्यानक-शैली की रचनाओं में इसका विशिष्ट स्थान है; क्योंकि इसकी भाव-व्यंजना कमनीय और शैली रमणीय तथा कला-कल्प पर्याप्त प्रौढ और प्रेषणीय है।

सिरिचिंधकव्व :

संस्कृत के भट्टिकाव्य या प्राकृत के द्वयाश्रय-काव्य की शैली पर लिखा गया यह काव्य 'प्राकृत-प्रकाश' (**वररुचि**) और 'प्राकृत-व्याकरण' (**त्रिविक्रम**) के नियमों को स्पष्ट करता है। इसे भी हम 'ललित व्याकरण' ही कहेंगे। व्याकरण जैसे तकनीकी एवं वैज्ञानिक विषय को कान्तासम्मित वचोभंगी के माध्यम से ललित बना देने की कला में पारंगत कवियों की संख्या तो विचेय ही है। **कृष्णलीलाशुक**

कवि ऐसे ही विचेय कवियों में अन्यतम एवं धन्यतम है, जिसने अपने नाम के लालित्य की अर्थवत्ता को अपने इस काव्य में बड़ी सफलता से प्रतिष्ठित किया है। सच पूछिए, तो इस सिद्धहस्त कवि ने व्याकरण की कर्कशा के रूखे बालों पर अपने काव्य की कोमल अँगुलियाँ फेरकर उसे एक मृदुला का मनोज्ञ रूप दे दिया है।

इस काव्य का अपर पर्याय है 'गोविन्दाभिषेक'। इसकी कथावस्तु कुल बारह सर्गों में परिबद्ध है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'श्री' शब्द के अंकन के कारण ही इसे 'श्रीचिह्नकाव्य' की आख्या प्राप्त हुई। कहते हैं कि कवि ने कुल आठ सर्ग ही लिख पाये थे, शेष चार सर्गों की रचना इसके टीकाकार **श्रीदुर्गाप्रसाद यति** ने की। काव्य के तत्त्वार्थ को समझने में **दुर्गाप्रसाद यति** की टीका पाठकों की बड़ी सहृदयता से सहायता करती है, अर्थात् कवि की काव्योदधि की गहनता में प्रवेश के लिए सुखद सीढ़ी का आनन्द देती है।

महाराष्ट्री-प्राकृत में संस्कृत के महाकाव्य की शैली पर लिखा गया काव्य इस बात का बड़ा ही मनोरोचक उदाहरण है कि जब प्राकृत-भाषाएँ सहज जनभाषा के पद से या जनसम्पर्क से दूर जा पड़ी, तब उन्हें कृत्रिमता प्रदान कर फिर सम्पर्क में ले आने का कृत्रिम प्रयास किया गया। कृत्रिमता के बावजूद इस काव्य का कवि अपने काव्य-कर्म की कारुकारिता के प्रति ईमानदार नहीं, ऐसी बात नहीं कही जा सकती। इस कवि के प्रस्तुत काव्य में सौन्दर्योन्मेष, प्रेमविह्वलता, भावतल्लीनता और लालित्य के साथ पाण्डित्य का विलक्षण विनियोग हुआ है। यह अवश्य है कि इस कवि का पाण्डित्य इसके काव्य-लालित्य पर कहीं-कहीं बुरी तरह हावी हो गया है। फिर भी, कवि की कृष्णभक्ति में शृंगार का मण्डन है, तो शृंगार में भक्ति का मधुर संयोग भी है।

संस्कृत और प्राकृत के समप्रतिभ पण्डित कवि **कृष्णलीलाशुक** केरल का निवासी था और अपने आत्मीय परिवेश में 'कोदण्डमंगल' या 'विल्वमंगल' के नाम से परिचित था। इसने १३वीं शती में उस समय दक्षिण की धरती को अपने जन्म से धन्य किया था, जिस समय उत्तर में नाथ-सम्प्रदाय की बाणियों की मुख्यता थी। हमारा अनुमान है, गोरखनाथ के पूर्व भारत में अनेक बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त और वैष्णव-सम्प्रदाय संघटित हो रहे थे और **कृष्णलीलाशुक** की गणना तत्कालीन वैष्णव-सम्प्रदाय के संघटक कवियों में मुख्यतम पंक्ति में रही होगी। इस कवि का एक अन्य संस्कृतनिबद्ध वैष्णव-काव्य 'श्रीकृष्णकर्णामृत' वैष्णव-भक्तों के बीच बहु-समादृत है।

निष्कर्ष : यह बात निर्विवाद है कि प्राकृत संस्कृत की पृष्ठभूमि पर चल कर जनमानस में पदार्पण करती है। इसलिए, प्राकृत-साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत के संस्कारों की प्रभामयी रचनाओं को विकसित करके नये साँचे में ढालने का प्रशंसनीय प्रयास हुआ है। यही कारण है कि 'श्रीचिह्नकाव्य' जैसे प्राकृत-महाकाव्यों का, समीकृत अध्ययन की दृष्टि से, साहित्यिक सन्दर्भात्मक महत्त्व अधिक बढ़ गया है।

सोरिचरित :

संस्कृत-महाकाव्यों के अध्ययन के सन्दर्भ में अनिवार्य प्राकृत-महाकाव्यों में 'सोरिचरित' ('शौरिचरित') परिगणनीय महत्त्व रखता है। यह भी कृष्णभक्ति-काव्य है। इस काव्य की रचना मालावार (कोलत्तुनाड) के राजा **केरलवर्मन्** की राजसभा के अप्रतिम विद्वान् **कविश्रीकण्ठ** ने की है। इस कवि का स्थितिकाल सन् १७००—१७८० ई० निर्णीत किया गया है। कुछ विद्वानों ने १५वीं शती का प्रथमार्द्ध भी माना है। यह महाकाव्य भी अपूर्ण रूप में ही प्राप्त है। इसके केवल चार आश्वास या सर्ग उपलब्ध हैं। इसकी रचना यमक-शैली में हुई है।

कविश्रीकण्ठ प्राकृत के साथ ही संस्कृत का भी सिद्धहस्त सशक्त कवि था। इसकी दूसरी रचना, जो यमक-शैली में ही निबद्ध है, संस्कृत में मिलती है। उस काव्य का नाम 'रघूदय' है। **श्रीकण्ठ** के शिष्य **रुद्रमिश्र** ने 'शौरिचरित' और 'रघूदय' दोनों पर अपनी विद्वन्मोदिनी शैली में टीकाएँ लिखी हैं। टीका में काव्य के मूल शब्दों की निरुक्ति-व्युत्पत्ति के लिए **वररुचि** और **त्रिविक्रम** के प्राकृत-व्याकरणों की सहायता ली गई है।

'शौरिचरित' में कृष्णभक्ति की अजस्र स्रोतस्विनी, कृष्णचरित के वर्णन के प्रसंग में प्रवाहित हुई है। **श्रीकण्ठकवि** शिल्पी भी है और कलाकार भी। काव्यात्मक संरचना-पक्ष जहाँ भावना की संवेदना पर हावी हो गया है, वहाँ काव्य में दुरूहता आ गई है। यह महाकाव्य भी 'श्रीचिह्नकाव्य' की परम्परा में ही उपसंहरणीय है।

निष्कर्ष : उपर्युक्त विवेचन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि प्राकृत और संस्कृत के महाकाव्यों की संरचना-प्रक्रिया एवं शिल्प-विधान में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। राजत्व-काल का प्रोत्साहन, धार्मिक उन्मेष, शिक्षा-संस्कार, ग्रन्थीय ज्ञान, आध्यात्मिक चिन्तन-पद्धति, जीवन-दर्शन की प्रखरता, तात्कालिकता-बोध आदि समस्त रचना-परिवेश दोनों भाषाओं के कवियों में समान रूप से विद्यमान रहे हैं। इसलिए, यह सहज ही है कि संस्कृत-काव्यों के अध्ययन की सांगता प्राकृत-काव्यों के अध्ययन में ही निहित है।

(ख) प्राकृत-खण्डकाव्य

प्राकृत-महाकाव्यों के विवेचन के क्रम में प्राकृत-खण्डकाव्यों पर भी विहंगावलोकन समीचीन होगा। प्राकृत के खण्डकाव्यों में भी काव्य के अन्तरंग धर्म अनुभूति और बाह्य धर्म अभिव्यक्ति की जीवन्त शक्ति उच्छलित है। काव्य की आत्मा अनुभूति है और अभिव्यक्ति शरीर। आत्मा के विना शरीर सप्राण नहीं हो सकता, इसलिए अनुभूति और अभिव्यक्ति ये दोनों तत्त्व ही काव्य के अभिन्न अंग हैं।

'साहित्यदर्पण' के अनुसार, महाकाव्य के एकदेश का अनुसरण करनेवाला

काव्य ही खण्डकाव्य है।[1] वस्तुतः, खण्डकाव्य में भी महाकाव्य के समान प्रबन्ध-प्रधानता रहती है। इसमें भी प्रबन्ध के समस्त तत्त्वों की उपस्थिति अनिवार्य है। अलंकार, कथाशिल्प, वर्ण्य विषय, रसतत्त्व, संवादात्मकता आदि समस्त काव्योपकरण इस काव्य-विधा में भी रहते हैं। परन्तु, महाकाव्य में जीवन की समग्रता निहित रहती है और खण्डकाव्य में जीवन का एक पक्ष ही खण्ड रूप में उभरकर सामने आता है।

वैशिष्ट्य : उपलब्ध प्राकृत-खण्डकाव्यों में जीवन के किसी एक ही अंश का प्रतिपादन हुआ है। युग का कोई महान् सन्देश प्रतिफलित नहीं हुआ है। प्राकृत-खण्डकाव्यों के उल्लेख्य तत्त्वों में प्राप्य लोकजीवन या लोकहृदय की सहज-सामान्य प्रवृत्तियों का अपना वैशिष्ट्य है। इसके अतिरिक्त, वीर नायक के आख्यान के समावेश के क्रम में युद्ध और शृंगार का समन्वयन मिलता है, तो घृणा, क्रोध, भय आदि का अन्वयन भी। इसके साथ ही प्रेमतत्त्व के सन्निवेश में जनरुचि की अनुकूलता का पूरा ध्यान प्राकृत-खण्डकाव्य के कवियों ने रखा है। कथायोजना में पौराणिक मान्यताओं को प्रतिष्ठा तो मिली ही है, अहिंसा, वीरता, तप, त्याग आदि का रसमय सन्देश विभिन्न साधनाओं के परिप्रेक्ष्य में रूपांकित किया गया है।

कंसवहो :

प्राकृत के खण्डकाव्यों में 'कंसवहो' (**रामपाणिवाद**) का स्थान पहली पंक्ति में आता है, इसके अनन्तर ही 'उषानिरुद्ध' (**रामपाणिवाद**) और 'भृंगसन्देश' का। 'कंसवहो' ('कंसवध') नामकरण प्राकृत के 'गउडवहो' या संस्कृत के 'शिशुपालवध' पर आधृत प्रतीत होता है। यह एक सरस काव्य है और इसमें लोकजीवन, वीरता और प्रेमतत्त्व का त्रिवेणी-संगम मिलता है। मुख्य कथावस्तु है उद्धव श्रीकृष्ण और बलराम को धनुर्यज्ञ के व्याज से गोकुल से मथुरा ले जाते हैं। वहाँ पहुँचने पर श्रीकृष्ण के द्वारा कंस का वध होता है।

कथाधार : कथानक का पृष्ठाधार श्रीमद्भागवत है और शैली **कालिदास**, **भारवि** और **माघ** की रचनाओं के प्रभावस्पर्श से ओतप्रोत है। कथावस्तु का मूल केन्द्र कंसवध है और समस्त वर्ण्य विषय इसी केन्द्रबिन्दु के चतुर्दिक् आवर्त्तित रहती है। अतः, घटना-प्राधान्य के कारण 'कंसवध' नामकरण की अन्वर्थता सिद्ध होती है।

चार सर्गों एवं २३३ पद्यों में निबद्ध इस 'कंसवध' का रचयिता कवि **रामपाणिवाद** दक्षिण के मालावार-प्रदेश की नम्बियम् जाति का था। इसका व्यवसाय नाट्य-प्रदर्शन के समय मुरज या मृदंग बजाना था। इसी से कवि के '**पाणिवाद**' नाम की सार्थकता भी प्रमाणित होती है। साहित्य और नृत्यकला की परम्परा से परिचित कवि आजीवन ब्रह्मचारी रहा। इस कवि ने सन् १७०७ ई०

---

१. 'खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।'

—सा० द०, परिच्छेद ६, कारिका ३२९।

में भारत के धराधाम पर पदार्पण किया था। कवि की काव्यशिक्षा तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् **नारायणभट्ट** के सान्निध्य में सम्पन्न हुई थी। यह कवि दक्षिण के अनेक राजाओं के आश्रय में रहा, जिनमें मालावार के **राजा कोलतिरि, राजा वीरराय**, कोचीन के एक ताल्लुकेदार, मूरियनाडु चेम्पक केसरी के **राजा देवनारायण, वीर मार्त्तण्डवर्मा, कार्त्तिक तिरुमाल** आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

कवि **रामपाणिवाद** संस्कृत, प्राकृत और मलयालम इन तीनों भाषाओं में समान अधिकार से साहित्य की रचना करने में पारंगत था। इसके चार संस्कृत-नाटक, तीन काव्य और पाँच स्तोत्रग्रन्थों के उपलब्ध होने की सूचना है। प्राकृत का तो यह महान् पण्डित था, तभी तो उसने **'वररुचि'** के 'प्राकृतप्रकाश' पर 'प्राकृतवृत्ति' नाम की टीका लिखी है।

अन्य खण्डकाव्य :

रामपाणिवाद के 'कंसवहो' खण्डकाव्य के अतिरिक्त दूसरा खण्डकाव्य 'उषानिरुद्ध' भी है। यह 'कंसवहो' से पूर्व की रचना है। फलतः, इसमें 'कंसवहो' जैसी काव्यप्रौढि का अभाव है। इसमें भी चार सर्ग हैं। इसकी कथा भी 'श्रीमद्भागवत' पर आधृत है। इसमें बाणासुर की कन्या उषा का श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ विवाह होना वर्णित है। प्रेमकाव्य की दृष्टि से मध्यम कोटि का होते हुए भी इसमें शृंगार का बड़ा ही उज्ज्वल रूप उद्भासित हुआ है।

'भृंगसन्देश' मेघदूत के अनुकरण पर मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध है। इसमें एक विरही व्यक्ति भृंग के द्वारा अपनी प्रिया के पास सन्देश भेजता है। वियोग का कारण माया का प्रभाव बतलाया गया है। ग्रन्थकार और इसकी संस्कृत-टीका के कर्त्ता के नाम का पता नहीं है।

निष्कर्ष : उपर्युक्त विवरण से यह अस्पष्ट नहीं रह जाता कि संस्कृत-खण्डकाव्य का उत्तरवर्त्ती विकास प्राकृत-खण्डकाव्यों में हुआ और इस प्रकार दोनों भाषाओं की विकास-परम्परा के साथ-साथ दोनों खण्डकाव्यों के समानान्तर अध्ययन की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है।

(ग) प्राकृत-चरितकाव्य

प्राकृत-प्रबन्धकाव्यों में चरितकाव्यों का स्थान बड़ा ही महनीय है। प्राकृत में चरितकाव्यों का विपुल विस्तार मिलता है। प्राकृत-साहित्य धार्मिक क्रान्ति-मूलक है। अतएव, इसमें आगमविषयक मान्यताओं का गुम्फन असहज नहीं। इसमें लौकिक साहित्य का तत्त्व निहित है, जो प्रबन्धात्मक काव्य एवं कथा-साहित्य की विकास-परम्परा का आधार है।

प्राकृत-चरितकाव्यों में लौकिक साहित्य के तत्त्व :

चरितकाव्यों में लौकिक साहित्य के प्राप्य तत्त्वों के कथात्मक आख्यान का

महत्त्व तो सन्निविष्ट रहता ही है, धार्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि प्रमुख अर्थालंकारों का विन्यास भी पाया जाता है। तत्त्वतः, कथोपकथनों की शृंखला के नैरन्तर्य के द्वारा उपदेशमूलक या नीतिपरक इतिवृत्त का चित्रालेखन ही चरितकाव्य है। छन्दों की विविधता एवं यथाप्रसंग अलंकृत वर्णन ने चरितात्मक काव्यकल्प को नवीन स्फूर्त्ति, नूतन गति और अभिनव भंगिमा दी है। जाति और वंश का अनुकीर्त्तन एवं साधना, आचार और दर्शन के साथ ही वैचारिक चिन्तन प्राकृत-चरितकाव्य को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। कुल मिलाकर, चरित्रोद्भावक सांस्कृतिक चेतना ही चरितकाव्य का मूल है।

संस्कृत के चरितकाव्यों का उत्स यदि वेद है, तो प्राकृत के चरितकाव्यों का आदिस्रोत उसका आगम-साहित्य। वस्तुतः, प्रबन्धकाव्य की ही एक मनोरम रूप-योजना चरितकाव्य है। चरितकाव्य के कवि अपनी मनोहारिणी कल्पना एवं समग्रात्मक सहानुभूति के द्वारा ऐतिहासिक एवं पौराणिक तथ्यों एवं तिथियों को मधुमय बनाकर धार्मिक आच्छादन में उपन्यस्त करते हैं। यह बात सोलहों आने सही है कि जीवधर्म की रसानुवर्त्तिनी प्रज्ञा और तीव्र भावना के कारण पात्रों के शील में रसोदात्तता के समावेश से ही चरितकाव्य की परम्परा प्रवर्त्तित होती है। निष्कर्ष यह है कि आदर्शात्मक निबन्धन प्रबन्धकाव्य के लिए आग्रह बना और चरितनायक के उत्कर्षपूर्ण लौकिक जीवन का चरित्रोद्घाटन ही चरितकाव्य का लक्ष्य हो गया।

प्राकृत-चरितकाव्यों के विविध रूप एवं परम्परा :

प्राकृत-चरितकाव्यों की कथावस्तु में राम, कृष्ण, तीर्थंकर अथवा अन्य महापुरुषों के जीवन-तथ्यों का निबन्धन किया गया है। प्राकृत में चरितकाव्यों की एक दीर्घतर परम्परा प्राप्त होती है। चरितकाव्यों के उपकरण-प्राचुर्य की दृष्टि से 'तिलोयपण्णत्ति' ('त्रिलोकप्रज्ञप्ति') का अपना महत्त्व है। 'कल्पसूत्र' एवं **जिनभद्रक्षमाश्रमण** के 'विशेषावश्यकभाष्य' में चरितकाव्यों की विकासोन्मुखता उपलब्ध होती है। **विमलसूरि** का 'पउमचरिय', **वर्द्धमानसूरि** का 'आदिनाथचरित', **सोमप्रभ** का 'सुमतिनाथचरित', **देवसूरि** का 'पद्मप्रभस्वामीचरित', **यशोदेव** का 'चन्द्रप्रभचरित', **अजितसिंह** का 'श्रेयांसनाथचरित', **नेमिचन्द्र** का 'अनन्तनाथचरित', **देवचन्द्र** का 'शान्तिनाथचरित', **जिनेश्वर** का 'मल्लिनाथचरित', **श्रीचन्द्र** का 'मुनिसुव्रतचरित' एवं **नेमिचन्द्र** का 'रयणचूडचरित' आदि चरितकाव्यों में अपनी ततोऽधिक प्रसिद्धि रखते हैं। चरितकाव्यों की यह परम्परा संस्कृत और अपभ्रंश-भाषाओं में भी वर्त्तमान है। प्राकृत में पौराणिक, ऐतिहासिक एवं अर्द्ध-ऐतिहासिक चरितनायकों से इतर लोकजीवन में ख्यातिप्राप्त महामहिम चरितनायकों का भी आदर्शोज्ज्वल चरित्र-चित्रण उपलब्ध होता है। इसलिए, लोकतत्त्वों की भूयिष्ठता की दृष्टि से ऐसे चरितकाव्य अतिशय वैशिष्ट्य से सम्पन्न हैं। जीवन की अन्तर्निहित क्षमता एवं

भावनात्मक आन्तरिक ऐक्य की परिपुष्ट कल्पना की प्रौढ परिणति के साथ ही इसमें धार्मिक जीवन का रसानुगामी विश्लेषण किया गया है, जिसमें समसामयिक विचार-बोध का बड़ा ही भव्य प्रतिफलन हुआ है। शिल्प की दृष्टि से, छन्दों का प्रयोग चरितकाव्य को अद्वितीय स्थान का अधिकारी बनाता है।

प्राकृत के रसानुगामी प्रमुख चरितकाव्य :

काव्य की अनेक विधाओं में चरितकाव्य का अपना वैशिष्ट्य है। इस काव्य-विधा में, जैसा नाम से स्पष्ट है, चरित की प्रधानता अपेक्षित है। इसमें चरित और काव्य दोनों का मिश्रण तो आवश्यक है ही, घटना-विन्यास में कुतूहल तथा अलंकार की सघनता से रहित रसानुगामिता की क्षमता की स्थिति भी अनिवार्य है। प्राकृत के रसानुगामी प्रमुख चरितकाव्यों में 'पउमचरिय', 'सुरसुन्दरीचरिय;, सुपासनाह-चरिय', 'सिरिविजयचंदकेवलिचरिय', 'महावीरचरिय', 'सुदंसणाचरिय', 'कुम्भा-पुत्तचरिय' आदि उल्लेख्य हैं। इन चरितकाव्यों का बहिरंग वर्णन शृंगार-रसानुगामी है, परन्तु अन्तरंगतः इनमें शान्तरस की परिणति के दार्शनिक आच्छादन या काया-मुक्ति-सह-निर्वाण की लक्ष्यैकतानता विन्यस्त है। यहाँ कतिपय प्रमुखतम चरितकाव्यों की संक्षिप्त विवेचना द्रष्टव्य है।

पउमचरिय :

संस्कृत-साहित्य की रामकाव्य-परम्परा में जो शीर्षस्थान आदिरामकाव्य[1] 'वाल्मीकिरामायण' को प्राप्त है, वही स्थान प्राकृत में जैनाचार्य **विमलसूरि**-रचित 'पउमचरिय' को उपलब्ध है। किन्तु, यह तथ्य ध्यातव्य है कि 'वाल्मीकिरामायण' को पुराण की कोटि में परिगणनीयता मिल गई है; किन्तु 'पउमचरिय' चरितकाव्य के लेखक ने इस खतरे से अपने को बराबर आगाह रखा है कि लिख्यमान चरितकाव्य कहीं पुराण न हो जाय। फलतः, उसने प्रत्येक पौराणिक विषय की प्रतिष्ठा रसानु-भूति के उस धरातल पर की है, जहाँ पाठक मनोरंजन के साथ ही भाव-तादात्म्य भी प्राप्त कर लेता है। इसे प्राकृत का सर्वप्रथम और सर्वाधिक चर्चित चरित-महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है।

प्राकृत 'पउमचरिय' के रचयिता जैनाचार्य विमलसूरि **आचार्य राहु** के प्रशिष्य, **विजय** के शिष्य एवं नाइल्लकुल के रत्न थे। नाइल्लों ने ईसापूर्व प्रथम शती में उज्जयिनी में राज्य किया था। इसी समय महाकवि **कालिदास** हुए थे, जिन्होंने अपने 'रघुवंश'-महाकाव्य (रामचरित) की रचना की थी। जैनाचार्य **मेरुतुंग** की प्रसिद्ध कृति 'स्थविरावली' (थेरावली) के अनुसार नाइल्ल गर्दभिल्लकुल में उत्पन्न हुए थे। 'स्थविरावली' के आधार पर यह कहना अत्युक्ति नहीं कि गर्दभिल्ल-वंश-

---

१. रामायणं महाकाव्यमादौ वाल्मीकिना कृतम्।
तन्मूलं सर्वकाव्यानामितिहासपुराणयोः ॥—बृहद्धर्मपुराण।

परम्परा के नाइल्लकुलभूषण **आचार्य विमलसूरि** के 'पउमचरिय' की रचना के पूर्व कालिदास-कृत काव्यात्मक रामचरित ('रघुवंश') की परम्परा प्रचलित हो चुकी थी। यद्यपि **विमलसूरि** का प्राकृतरचना-सौष्ठव **कालिदास** की पारम्परिक कथावस्तु से अलग हटकर स्वतन्त्र रूप में विकसित हुई है एवं अपनी विशिष्ट मौलिकता की महनीयता से समन्वित है।

'प्रशस्ति' में **विमलसूरि** का काल ईसवी-सन् की प्रथम शती लिखा है। परन्तु, ग्रन्थ के अन्तःपरीक्षकों ने 'पउमचरिय' को ईसवी-सन् की तीसरी-चौथी शती का ठहराया है। भाषा-परीक्षकों का अनुमान है कि इस ग्रन्थ की रचना महाराष्ट्री-मिश्रित परिमार्जित प्राकृत में हुई है। इसलिए, इसका रचनाकाल दूसरी शती के पूर्व सम्भव नहीं है। इस भाषा के समय की उत्तर सीमा सातवीं शती है; क्योंकि इसी शती में महाकवि **रविषेण** ने इसी चरितकाव्य के आधार पर संस्कृत में 'पद्म-चरितम्' की रचना की है। उत्तरकालीन छन्दों के प्रयोग भी **विमलसूरि** को द्वितीय शती से परवर्ती सिद्ध करते हैं।

वर्णन की विशालता से युक्त ११८ सर्गों में आबद्ध प्रस्तुत चरितकाव्य 'पउमचरिय' ने परम्परित रामकथा को तथाकथित ईश्वरवाद की अपुंसकता से बचाने के लिए अपना मानववादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिसमें हमें अज, अनन्त, अनादि ब्रह्म राम की जगह विशुद्ध मानव राम के दर्शन होते हैं। 'वाल्मीकि-रामायण' से इसकी कथा-विशेषता इस मानी में है कि इसमें कवि ने 'वाल्मीकि-रामायण' की कथावस्तु के ईश्वरवादी स्थलों में किंचित् संशोधन कर यथार्थबुद्धि-वादी मानवतावाद या कर्मप्रधानता की प्रतिष्ठा की है। क्योंकि, प्राकृत का चरित-काव्य केवल व्यक्तिगत 'क्रिया' का नहीं, बल्कि समष्टिगत 'कर्म' का प्रबन्ध है। इसका कथा-प्रवाह लौकिकता के धरातल पर सामान्य भाव से गतिशील दिखाई पड़ता है। भाषा की सुष्ठुता तथा वर्ण की शिष्टता की दृष्टि से 'पउमचरिय' प्राकृत-चरितकाव्यों में सुमेरुशिखर बना हुआ है। किन्तु, कुछ विद्वान् 'पउमचरिय' को महाकाव्य की कोटि में रखते हैं, जो उसकी वर्णनगत काव्यमयी रमणीयता की समृद्धि की दृष्टि से असंगत नहीं। तत्त्वतः, 'पउमचरिय' महाकाव्यगुणभूयिष्ठ चरित-काव्यों में वरेण्य है।

वैशिष्ट्य : इस सन्दर्भ में विशेषतः ज्ञातव्य है कि संस्कृत में रामकाव्य की बड़ी समृद्ध परम्परा प्राप्त होती है और प्राकृत की रामकाव्य-परम्परा भी अपनी अभिराम अपूर्वता के लिए अभिनन्दनीय है। इसलिए, भारतीय आर्ष रामकाव्य का सांगोपांग अध्ययन तभी हो सकेगा, जब संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के राम-चरित (पद्मचरित : राम=पद्म) का समानान्तर अध्ययन किया जायगा।

सुरसुन्दरीचरिय :

प्रेमाख्यानक 'सुरसुन्दरीचरियम्' का उत्कृष्ट चरित-महाकाव्यों में अन्यतम स्थान है। यह सोलह परिच्छेदों या सर्गों में विभक्त है और प्रत्येक सर्ग में २५० पद्य हैं। इसके रचयिता ११वीं शती के प्राकृत-कवि **धनेश्वर सूरि** हैं। चरितनायिका के नाम पर इस काव्य को संज्ञित किया गया है और सारा काव्य चरितनायिका को आवर्त्तित कर प्रवाहित होता है। कवि ने इसमें जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण समधिक सरसता और विदग्धता से किया है, साथ ही प्रेम की पार्यन्तिकता के प्रतिपादन में पाण्डित्य की सर्जनात्मक स्फूर्त्ति का परमोज्ज्वल प्रदर्शन किया है। धर्म और काम का ऐसा रोचक एवं मार्मिक वर्णन किया गया है कि इस चरितकाव्य की नायिका सुरसुन्दरी कामाध्यात्म की एक ललित एवं लावण्यमयी विभूति बन गई है। रसनिष्पत्ति की दृष्टि से इस काव्य की अपनी महत्ता है।

सुपासनाहचरिय :

प्रस्तुत चरितकाव्य में सातवें तीर्थंकर **सुपार्श्वनाथ** का चरित-चित्रण है। लगभग आठ हजार गाथाओं में इस ग्रन्थ की पूर्णाहुति हुई है। इसके रचयिता कवि **लक्ष्मगणी** हैं। कायामुक्ति इसका प्रधान लक्ष्य है। नर-नारी के व्रतों का विधान ही इसका परिधान है। प्राकृत की रचना होने पर भी इसमें अपभ्रंश का प्रचुर प्रभाव-स्पर्श है, साथ ही संस्कृत की शब्दावली भी आत्मसात् की गई है। प्राकृत के जिस पाठक को संस्कृत की पृष्ठभूमि आयत्त है, वह इस काव्य का अधिक आस्वाद ले सकेगा। वर्णन की सप्राणता एवं आलंकारिकता के बावजूद इस काव्य की रसानुगामिता निर्वाणोन्मुख जितनी अधिक है, लोकोन्मुख उतनी ही कम। तमस् से ज्योति की ओर, सत् से असत् की ओर एवं मृत्यु से अमरता की ओर प्रेरित करनेवाला यह चरितकाव्य सांस्कृतिक चेतना की विभूति से विशिष्ट है। यह 'समराइच्चकहा' की कथावस्तु से अंशतः प्रभावित है।

गद्यपद्यमिश्रित प्राकृत-चरितकाव्य :

उपर्युक्त चरितकाव्यों की चर्चा की सीमा में प्राकृत के कतिपय ऐसे गद्य-पद्य-मिश्रित चरितकाव्य उल्लेख्य हो सकते हैं, जो चरितकाव्य के पथ-प्रवाह में क्रोशशिला बने हुए हैं। इन्हें 'साहित्यदर्पण' के 'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते' के अनुसार चम्पूकाव्य[1] कह सकते हैं। ऐसे काव्यों में **श्रीशीलांकाचार्य**-विरचित 'चउप्पन-महापुरुषचरियं', मुनि **गुणपाल**-रचित 'जंबुचरियं', **गुणचन्द्रसूरि**-लिखित 'महावीर-चरियं' आदि के नाम सगौरव उद्घोष्य हैं।

---

१. चम्पूकाव्यों की चर्चा आगे की गई है।

निष्कर्ष : कहना अनपेक्षित न होगा कि तत्त्वतः, प्राकृत के चरितकाव्यों की परम्परा का अपना निजत्व है, जो संस्कृत-काव्यों के समानान्तर अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं। इन चरितकाव्यों में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का शारीरिक एवं आत्मिक विनियोग हुआ है। अतएव, तीनों का समेकित अध्ययन आवश्यक है।

(घ) प्राकृत के चम्पूकाव्य

प्राकृत में यथार्थतः चम्पूकाव्य का अभाव है। पूर्वोक्त गद्य-पद्यमिश्रित चरित-काव्य यथार्थतः चम्पूकाव्य नहीं है। क्योंकि, 'साहित्यदर्पण' के अनुसार केवल गद्य-पद्य-मिश्रण को चम्पूकाव्य नहीं माना जा सकता। ऐसी परिभाषा देकर स्वयं **विश्वनाथ महापात्र** ने चम्पूकाव्य के उदाहरण में 'देशराजचरितम्' को प्रस्तुत किया है, जो निश्चय ही केवल गद्य-पद्य-मिश्रण नहीं है, अपितु उसमें काव्य के समस्त तत्त्व विद्यमान हैं। सही मानी में चम्पूकाव्य वह है, 'जिसमें वस्तु और दृश्यों का रूपचित्रण गद्य में किया गया हो और उनकी पुष्टि के हेतु भाव, विभाव, अनुभाव आदि का निरूपण पद्य में हो।'[१] कहना यह कि संश्लिष्ट रूप में गद्य-पद्य का सद्भाव ही चम्पूकाव्य का अनिवार्य गुण है। इसके अभाव में केवल गद्य-पद्य के माध्यम से प्रस्तुत कथानक में विशृंखलता आ जायगी।

कुवलयमाला :

दाक्षिण्यचिह्न **उद्योतनसूरि**-रचित 'कुवलयमाला' को प्राकृत-चम्पूकाव्य के रूप में उदाहृत किया जाता है। **डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री** ने इसे 'प्राकृत-चम्पूकाव्य का अनुपम रत्न'[२] कहा है। **डॉ० जगदीशचन्द्र जैन** ने लिखा है कि गद्य-पद्यमिश्रित महाराष्ट्री-प्राकृत की यह प्रसादपूर्ण रचना चम्पू की शैली में लिखी गई है।[३] कथाओं या आख्यायिकाओं में गद्य की प्रमुखता के कारण भावों का निरूपण गद्य में भी रहता है। फलतः, दृश्यो और भावों की अभिव्यंजना में शिल्प या शैलीगत भेद दृष्टिगत नहीं होता। परन्तु, चम्पूकाव्यों में दृश्यों और भावों के चित्रण में शैलीगत भिन्नता का सीमांकन किया जा सकता है। 'कुवलयमाला' में यह शैलीपरक भिन्नता स्पष्टतया उद्भासित है।

'कुवलयमाला' के रचयिता **उद्योतनसूरि** आचार्य **हरिभद्र** के शिष्य थे। यह प्रमाण, न्याय, धर्म आदि विषयों के पारगामी कवि थे। उन्होंने इस कृति की रचना जाबालिपुर (जालोर, राजस्थान)-प्रवास के समय **वीरभद्रसूरि** द्वारा बनवाये गये

---

१. द्र० प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (तथैव), पृ०३६०।

२. उपरिवत्, पृ० ३६१।

३. द्र० प्राकृत-साहित्य का इतिहास (तथैव), पृ० ४१७।

ऋषभदेव के चैत्यालय में बैठकर, शक-संवत् ७०० में की थी। इस बात की सूचना इसी कृति के अन्तःसाक्ष्य से मिलती है : "जाबालिउरं अट्ठावयं......एग दिणेणूर्णेहिं रइया अवरण्हवेलाए।" (कुव०, पृ० २८२, अनु० ४३०)

'कुवलयमाला' की कथा पारम्परिक है। अयोध्या का राजकुमार कुवलयचन्द्र दक्षिणापथ के राजा विजयसेन की कन्या कुवलयमाला की रूपचर्चा से मुग्ध होता है और फिर अन्त में दोनों का विवाह होता है।

इस चम्पूकाव्य में धर्म-दर्शन और कथा-काव्य का समन्वित विन्यास हुआ है। वर्णन की बहुलता एवं विविधता के परिवेश में कथा की परतें कदली-स्तम्भ या बन्दगोभी के पत्ते की तरह एक-पर-एक उभरती चली जाती हैं। नागर-सभ्यता का विकास, प्रदर्शनमूलक ऐश्वर्य और सम्पन्नता, आत्मचिन्तामूलक विलासिता, सुरुचिपूर्ण साज-सज्जा और चारुतापूर्ण शृंगार की प्रवृत्ति आदि राजोचित विशेषताओं की दृष्टि से 'कुवलयमाला' की वर्णन-समृद्धि रूढ वस्तु-विन्यास का प्रत्यक्ष प्रतीक है। ऐतिहासिक तथ्यों की योजना और कथानक-रूढियों के प्रयोग से इसकी कथावस्तु बाधित नहीं हुई है, वरन् उसकी रमणीयता में चारुता का चार चाँद लग गया है।

वैशिष्ट्य : संस्कृत-काव्यों से इस प्राकृत-काव्य का अपना उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है। संस्कृत-काव्यों में, चरित्रों में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की गई है, किन्तु यह काव्य व्यष्टिनिष्ठता से अलग वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें जहाँ अभिजात-वर्ग के चरित्र-चित्रण का प्रसंग आया है, वहाँ कवि ने संकीर्णता से काम न लेकर पर्याप्त उदात्तीकरण का उन्मेष उपस्थापित किया है। प्रसंगतः, संस्कृत के अलावा, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची, मागधी, राक्षसी एवं मिश्रभाषाओं तथा देशी भाषाओं की चर्चा भी इस काव्य की विशेषता है। कहना न होगा कि भाषा तथा विषय की परिपुष्टता की दृष्टि से यह काव्य संस्कृत-काव्यों के समानान्तर अध्ययन के महत्त्वपूर्ण साहित्यिक तत्त्वों से सम्पन्न है।

निष्कर्ष : इस अध्ययन में किये गये प्राकृत-काव्यों के विवरण-विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि संस्कृत और प्राकृत का मूलाधार 'छान्दस' भाषा है। व्याकरण की दृष्टि से भी इनकी समानताएँ स्पष्ट हैं। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी इन्हें एक ही मानना न्यायसंगत है। ऐसी स्थिति में प्राकृत-साहित्य के इतिहास को संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत समाहित कर लेना या समाहित मानना औचित्य के अधिक निकट होगा। भाव एवं अभिव्यंजना तथा भारतीय चिन्ताधारा का प्रतिनिधित्व, इन सभी दृष्टियों से प्राकृत-साहित्य की परिगणना संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत होगी। इसलिए, संस्कृत का अध्ययन प्राकृत के अध्ययन के बिना पूरा नहीं है और आनेवाले भविष्य में ऐसी विवशता उत्पन्न होगी कि हमें अनिवार्यतः संस्कृत में प्राकृत को समाहित करना ही पड़ेगा।

अध्ययन २

प्राकृत-संस्कृत-गीतिकाव्यों में समानान्तर अध्ययन के तत्त्व

(क) गीति-मुक्तककाव्य या मुक्तक-गीतिकाव्य

सामान्यतः मुक्तककाव्य के दो भेद हैं: वाच्यमुक्तक और गीतिमुक्तक।[1] 'ऋग्वेद', 'रामायण' और 'महाभारत' में समाहित गीतों की गणना वाच्यमुक्तक में की जा सकती है। 'ऋग्वेद' के गीतों में गीतिमुक्तक के तत्त्व प्रचुरता से प्राप्य हैं, परन्तु गीतिमुक्तकता से अधिक प्रभावक उनकी वाच्यमुक्तकता है। गीतिमुक्तक ही गीतिकाव्य हैं। यहाँ प्राकृत के गीति-मुक्तकों की चर्चा करने के क्रम में गीति-काव्यों की विवेचना अपेक्षित है, इस सन्दर्भ में कि प्राकृत-गीतिकाव्यों के अध्ययन के विना संस्कृत-गीतिकाव्यों का अध्ययन अपूर्ण ही रह जायगा।

मुक्तक-विवेचन :

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'पूर्वापरनिरपेक्ष स्वतःपर्यवसित काव्य'[2] को मुक्तक-गीतिकाव्य कहा है। 'शब्दकल्पद्रुम' में मुक्तक-लक्षण इस प्रकार है:

विनाकृतं विरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम्।
भिन्नं स्यादथ निर्व्यूहे मुक्तं यो वातिशोभनः॥

डॉ० शास्त्री की उक्त परिभाषा इसी श्लोक पर आधृत है। उक्त श्लोक में अंकित 'विनाकृत, विरहित, व्यवच्छिन्न, विशेषित एवं भिन्न' शब्दों से यह अर्थ सिद्ध होता है कि जो काव्य अर्थ-पर्यवसान के लिए परापेक्षी न हो, वह 'मुक्तक' कहलाता है। श्लोक में एक शब्द 'निर्व्यूह' भी आया है। प्रबन्धकाव्य में अर्थ का पर्यवसान प्रबन्धापेक्षी होता है, किन्तु मुक्तक में 'निर्व्यूह', अर्थात् स्वतःपर्यवसायी। मुक्तक-काव्य के लिए यह आवश्यक शर्त्त है कि रसात्मक चमत्कार के समस्त सांगीतिक उपकरण एक ही पद्य में समाविष्ट रहें।

प्राकृत में गीति-मुक्तकों का उद्गम 'छान्दस' की मुक्तक-शैली पर आधृत है, किन्तु उनका विकास आगम-साहित्य की सरस पद्यात्मक उपदेश-प्रवचन-पद्धति से माना जाता है। शृंगार के साथ ही शान्त और निर्वेद रस की परिपक्वता के

---

१. विशेष विवरण के लिए द्र० 'संस्कृतगीतिकाव्यानुचिन्तनम्' : डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्र० सुशीला प्रकाशन, धौलपुर, प्र० सं०, पृ० २६।

२. प्रा० भा० सा० आ० इतिहास (तथैव), पृ० ३६६।

अतिरिक्त प्राकृतिक सौन्दर्य का रुचिर संगुम्फन एवं तरल सुन्दर भाषा-शिल्प मुक्तकों के लिए अनिवार्य है। कल्पना एवं भावात्मक तन्मयता की समृद्धि ही मुक्तकों का प्राणबिन्दु है। अनुभूति की तीव्रता, अलंकृत अभिव्यक्ति, बिम्बात्मकता एवं स्फूर्त्ति को रूपायित करने का आग्रह मुक्तकों की आन्तरिक श्री की विवृद्धि का मूल कारण है। आनन्दवर्द्धन-कृत 'मुक्तक' की परिभाषा और व्याख्या के अनुसार मुक्तक-काव्य की रचना का श्रेय प्राकृत-भाषा को है।[1] लोकभाषा के रूप में प्राकृत-भाषा की समृद्धि ही प्राकृत की रसमयी रचनाओं का कारण है। इन रचनाओं से संस्कृत के मुक्तक-साहित्य ने प्रचुर प्रभाव-स्पर्श स्वीकार किया। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि प्राकृत ने संस्कृत से कुछ आदान किया, तो संस्कृत को कुछ प्रदान भी किया। पहले भी कहा गया है कि प्राकृत और संस्कृत दो ऐसी नदियाँ हैं, जिनकी धाराएँ एक दूसरे में मिलती हैं।

प्राकृत-मुक्तकों की परम्परा और विकास :

प्राकृत-मुक्तकों की अभिनव एवं प्रौढ परम्परा 'गाथासप्तशती' से आरम्भ होती है। किन्तु, 'गाथासप्तशती' की गीतिकाव्यात्मक प्रौढि यह इंगित करती है कि इतःपूर्व भी प्राकृत के गीति-मुक्तकों की रचनाएँ अस्तित्व में आ चुकी होंगी। गोवर्द्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती', अमरुक का 'अमरुकशतक' एवं भर्त्तृहरि का 'भर्त्तृहरि शतक' तो निश्चय ही प्राकृत-गीति-मुक्तक के आधेय हैं। प्राकृतमुक्तकों की धारा स्तोत्रात्मक भक्तिकाव्य एवं रसेतर नीतिकाव्य के रूप में भी प्रवाहित हुई है। धार्मिक पृष्ठभूमि के साथ जीवन की अन्यान्य विधा-वृत्तियों के सात्म्यीकरण के कारण प्राकृत के मुक्तक-गीतिकाव्यों में जीवन की विभिन्नताएँ प्रतिफलित हुई हैं।

प्राकृत के गीति-मुक्तकों की आधारशिला आमुष्मिकता थी। परन्तु, 'गाथा-सप्तशती' की रचना के बाद उनमें भावतः और विधानतः भी रुचिर परिष्कार हुआ। संस्कृत में कालिदास ने शृंगारिक गीति-मुक्तकों की रचना की, परन्तु भर्त्तृहरि ने शृंगार के साथ ही वैराग्य और नीति के भी मुक्तक लिखे। भर्त्तृहरि ने नारी-सौन्दर्य में सांसारिक अस्थिरता के दर्शन किये। अमरुक ने शृंगार के ततोऽधिक रमणीय मुक्तक प्रस्तुत किये, तो गोवर्द्धनाचार्य ने ग्रामीण एवं गार्हस्थ्य वातावरण का हृदयावर्जक विनियोग उपस्थित किया।

भारतीयों का आभीरों से संसर्ग इसी प्राकृत-काल में हुआ था, ऐसा इति-हासवेत्ता कहते हैं। आभीरों की भाषा ने प्राकृत-भाषा को सहज ही प्रभावित किया, फलतः प्राकृत के उच्चारण एवं वाक्य-विन्यास में सहज ही विपर्यय आने लगा। परिणामतः, अपभ्रंश जैसी एक लोकभाषा ने रूप धारण किया और परवर्त्ती काव्यविधाओं की परम्परा में ही अपभ्रंश में भी मुक्तकों की रचना

---

१. द्र० प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (तथैव), पृ० ३७०।

प्रारम्भ हुई। प्राकृत का ही 'गाथा' या 'गाहा' छन्द अपभ्रंश का 'दोहा' या 'दूहा' बना। प्राकृत के प्रसिद्ध मुक्तक-लेखक **कुन्दकुन्द, स्वामिकार्त्तिकेय, बट्टकेर, नेमिचन्द्र, हरिभद्र** आदि के सैद्धान्तिक एवं आमुष्मिकतापरक मुक्तक-काव्यों की शैली 'योगसार', 'परमार्थप्रकाश' (**योगीन्दु**), 'पाहुडदोहा' (**रामसिंहमुनि**) और 'सावयधम्मदोहा' (**देवसेन**) का आधार बनी। **आचार्य हेमचन्द्र** के शृंगार-वीर-करुणरसात्मक गीति-मुक्तक तो सर्वपरिचित हैं।

इस प्रकार, प्राकृत-गीतिमुक्तकों की परम्परा का व्यापक विकास धर्म और सिद्धान्त के आग्रह पर हुआ, जिससे मुक्तक-साहित्य के विस्तार के अनेक नवीन वातायन उद्‌घाटित हुए। साथ ही, ऐहिकता की स्वीकृति के कारण शृंगार की विभिन्न भव्य परिकल्पनाएँ की गईं। गीति-विन्यास के माध्यम से आत्मपरीक्षण अनिवार्य हुआ, तो आत्मसंस्थापन की प्रक्रिया भी उद्‌बुद्ध हुई। मुक्त चिन्तन ही मुक्तक-गीतिकाव्य का सूत्र बना। कहना न होगा कि धर्म और काम-तत्त्वों की युगसन्धि पर प्रतिष्ठित प्राकृत-मुक्तक-काव्यों की परिपाटी बड़ी सुव्यवस्थित और बहुरंग है।

यहाँ हम प्राकृत के कतिपय प्रसिद्ध गीतिमुक्तकों की चर्चा करेंगे, जिनका अध्ययन संस्कृत-मुक्तकों की अध्ययन-सांगता के सन्दर्भ में अपनी अनिवार्यता रखता है।

गाहासत्तसई (गाथासप्तशती) :

'गाथासप्तशती' प्राकृत-गीतिमुक्तकों का मनोरम संग्रह है। 'ध्वन्यालोक' के 'लोचन' टीका के कर्त्ता के अनुसार, 'मुक्तक अन्य से असम्बद्ध एवं स्वतन्त्र निराकांक्ष अर्थ की परिसमाप्ति के गुणों से युक्त प्रबन्ध के बीच की वस्तु होता है।'[१] 'गाथा-सप्तशती' की प्रत्येक गाथा मुक्तक के उक्त लक्षण से युक्त एवं शृंगार-रसवर्षी होने के कारण प्रबन्धशतायमान है। 'गाथासप्तशती' काव्यग्रन्थों में बहुतों से पुरानी है। आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले इसकी रचना हुई थी। डॉ० **जगदीशचन्द्र जैन** के अनुसार, इस प्राकृत-मुक्तक-संग्रह के कर्त्ता **सातवाहन हाल** का समय ईसवी-सन् ६९ निश्चित किया गया है।[२] इस गीति-मुक्तक-काव्य में प्राकृत के प्रतिनिधि कवियों और कवयित्रियों की चुनी-चुनाई लगभग सात सौ गाथाओं का संकलन है, जो इसकी आख्या को अन्वर्थ करता है। **बाणभट्ट** ने अपने 'हर्षचरित' में इसे 'गाहा-कोस' के नाम से उट्टंकित किया है। अलंकृत एवं ध्वन्यर्थप्रधान ये गाथाएँ महाराष्ट्री-

---

१. 'मुक्तकमन्येनानालिङ्गितम्। स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबन्ध-मध्यवर्त्ति मुक्तकमित्युच्यते।'—गाथासप्तशती, भट्टश्रीमथुरानाथ शास्त्री की भूमिका, पृ० १५।

२. द्र० प्राकृत-साहित्य का इतिहास (तथैव), पृ० ५७५।

प्राकृत में, आर्या छन्द में निबद्ध हैं। जनश्रुति तो यह है कि 'गाथासप्तशती' के संग्रहकर्त्ता ने एक करोड़ प्राकृत-गीतियों में केवल सात सौ गीतियों को चुनकर इसमें आकलित किया है। इस सप्तशती की सारस्वत मधुरिमा ने संस्कृत के कवियों को आवर्जित किया। **बाण, रुद्रट, मम्मट, वाग्भट, विश्वनाथ, गोवर्द्धन** आदि आचार्य कवि इस सप्तशती के प्रति न केवल प्रशंसामुखर हुए, अपितु इसकी गाथाओं को, अपने-अपने ग्रन्थों में अलंकार, रस, ध्वनि आदि को लक्षित करते समय, उदाहरण के रूप में रखा। **गोवर्द्धनाचार्य** तो इससे यहाँतक प्रभावित हुए कि उन्हें कहना पड़ा : "इस प्राकृत-काव्य में जैसी सरसता है, वैसी संस्कृत-काव्य में नहीं और इसीलिए मेरी संस्कृत-निबद्ध 'आर्यासप्तशती' प्राकृत-'गाथासप्तशती' की माधुरी से सहज मोहित मेरे द्वारा बलपूर्वक किया गया उसका अनुकरण-मात्र है ('वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता')।" यह निर्विवाद है कि 'गाथासप्तशती' से ही संस्कृत की सप्तशतियों एवं संस्कृतेतर भारतीय भाषाओं की सतसइयों की रचना-परम्परा प्रचलित हुई। सप्तशती की परम्परा की जननी के रूप में 'गाथा-सप्तशती' ने निश्चय ही सर्वसम्मत श्लाघ्यता आयत्त की है।

रचनाकार : दीपकर्णि का पुत्र **सातवाहन** प्रतिष्ठानपुर (पैंठण) का विद्वान् राजा था। इसकी सभा के रत्नों में 'वृहत्कथा' के प्रणेता **गुणाढ्य**, कालाप-व्याकरण के रचयिता **शर्ववर्मा** प्रभृति अनेक मनीषी कविरत्न उल्लेख्य हैं। 'कथासरित्सागर' (३८।१०८) के अन्तस्साक्ष्य के अनुसार प्रतिष्ठानपुर दक्षिणापथ में था, जो सम्प्रति 'पैंठण' नाम से प्रसिद्ध है। 'पैठण' के इस **सातवाहन** की दूसरी संज्ञा 'हाल' भी है। कोशकारों ने भी **हाल** को **सातवाहन** या **शालिवाहन** का ही पर्याय माना है।[१] **हाल** आन्ध्रवंशीय था और यही **सातवाहन** या **शालिवाहन** के नाम से ईसवी की प्रथम शती में विद्यमान था, ऐसा आधुनिक आलोचकों का अनुमान है। जैन अनुश्रुति 'प्रबन्धकोष' के अनुसार, यह विक्रमादित्य-कालीन **कालकाचार्य** का समकालीन था। इसमें, **प्रवरसेन, वाक्पतिराज, अवन्तिवर्मन्, ईशान, दामोदर, धनंजय, माधवसेन, नरवाहन** आदि दसवीं शती तक के अनेक प्राकृत-कवियों के नाम आये हैं। इसलिए, इस कवि ने इसका संकलन दसवीं शती में किया, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं और इस प्रकार यह दसवीं शती का सिद्ध होता है। इस विद्या-विशाल कवि का काल भले ही विवादास्पद हो, किन्तु काव्य निश्चय ही निर्विवाद्य है।

लक्षणशास्त्र एवं वर्ण्य विषय की दृष्टि से सर्वोत्तम इस मुक्तक-गीतिकाव्य का रचयिता शैव प्रतीत होता है। किन्तु, जैनेतिहास के अनुसार, **हाल** जैनधर्मा-नुयायी एवं जैनतीर्थोद्धारक के रूप में भी स्मरण किया जाता है। **हेमचन्द्र** और

१, (क) 'हालः स्यात्सातवाहनः।' (हैमनाममाला); (ख) 'सालाहणम्मि हालो।' (देशीनाममाला); (ग) 'शालो हालनृपेऽपि च।' (त्रिकाण्डशेषानेकार्थ)।

प्रबन्धकोषकार **मेरुतुंग** ने इसे **नागार्जुन** का शिष्य कहा है। **हाल** का अपना व्यक्तित्व भी निश्चय ही विलासप्रिय एवं रुचिसम्पन्न शृंगारप्रेमी रहा होगा, तभी तो वह ऐसी रसाप्लुत काव्यकृति प्रस्तुत कर पाया होगा।

भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण'[1] (२।१५) से संकेतित है कि **विक्रमादित्य** ने जिस प्रकार संस्कृत के प्रचार के लिए प्रयत्न किया, उसी प्रकार **शालिवाहन** ने प्राकृत के प्रसार के लिए। **राजशेखर** ने 'काव्यमीमांसा' में लिखा है कि **शालिवाहन** अपने अन्तःपुर में प्राकृत में ही बातचीत किया करता था।[2] **बाणभट्ट** ने **सातवाहन** को प्राकृत के सुभाषित-रत्नों का संग्रहकार कहा है।[3] इस विवेचन के सन्दर्भ में **हाल सातवाहन** को यदि प्राकृत के क्षेत्र में मुक्तक का सूत्रपात करनेवाला अग्रणी पुरोधा कहा जाय, तो अतिशयोक्ति न होगी।

रचना-वैशिष्ट्य : शृंगार रस की प्रधानता के कारण इसमें रूप-सौन्दर्य, हाव-भाव, विलास-बिब्बोक, चेष्टा और क्रियाओं के बिम्बात्मक चित्र उपस्थित किये गये हैं। शृंगार के सहज आधार नायक-नायिकाओं के वर्णन-विनियोग के प्रसंग में साध्वी, कुलटा, पतिव्रता, वेश्या, स्वकीया, परकीया, पुंश्चली, स्वैरिणी आदि जितनी प्रकार की नायिकाओं की प्रतिच्छवियाँ उभरी हैं, उतनी की प्रतिच्छाया **भानुदत्त** की 'रसमंजरी' में भी नहीं मिलती। 'गाथासप्तशती' सही मानी में रसमुक्तक-गीतिकाव्य है। यह अपनी रसात्मक रम्यता से सहृदय के हृदय को चमत्कृत करने की अपूर्व क्षमता रखती है। इसमें रमणीय दृश्यों एवं मनोहारी परिस्थितियों को मोहक आकल्पन के साथ प्रस्तुत किया गया है। चमत्कारी अर्थ से परिपूर्ण इसका प्रत्येक श्लोक **दण्डी** की मुक्तक-परिभाषा '**मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्**' को अक्षरशः अन्वर्थ करता है।

इस काव्य की प्रत्येक गाथागीति अपने-आपमें स्वतन्त्र एवं आमुष्मिकता की चिन्ता से मुक्त है। मुक्त चिन्तन में ही इसका शिल्प-कौशल, अभिव्यक्ति-सामर्थ्य एवं मर्म-व्यंजना का निखार परिलक्षित होता है। इसमें जहाँ ग्राम्य जीवन का रुचि-निर्माण है, वहीं रुचि-संस्कार भी। सभी गाथाएँ तत्कालीन विभिन्न सामाजिक अवस्थाओं के ऐसे वातायन हैं, जिनमें शाब्दिक इन्द्रजाल एवं आलंकारिक चमत्कार से युक्त जीवन-संगीत की शाश्वत लहर उठती रहती है। 'गाथा' जैसे छोटे छन्द में प्रसंगों का समस्त आकलन एवं भावों और अनुभावों का बिम्बात्मक

---

१. केनासन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतभाषिणः ।। (२।१५)

२. श्रूयते च कुन्तलेषु सातवाहनो नाम राजा, तेन प्राकृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानपूर्वेण।'

३. अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितः ।। —हर्ष०, श्लो० १३।

निरूपण सांकेतिक पद्धति से ही हुआ है; किन्तु इससे कवि की सामासिक शक्ति और संघटनात्मक संरचना के विस्मयकारी सामर्थ्य का पता चलता है। कवि की एक उत्प्रेक्षा में भाव की विपुलता एवं महाशयता द्रष्टव्य है :

रेहंति कुमुअदलणिच्चलट्ठिआ मत्तमहुअरणिहाआ ।
ससिअरणीसेसपणासिअस्स गण्ठिव्व तिमिरस्स ।। (५६१)

उक्त गाथा में, कुमुद-दलों पर निश्चल भाव से बैठे काले भौंरे अन्धकार की गाँठों की तरह लगते हैं, यह कहा गया है। भौंरे की 'अन्धकार की गाँठ' से उत्प्रेक्षा चकित करनेवाली है। प्रेम की रसमाधुरी में तदात्म करनेवाला एक अपूर्व प्रसंग :

घरिणीए महाणसकम्मलग्गमसिमलिएण हत्थेण ।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा ।। (१३)

चित्र है : रसोई के काम में लगी हुई गृहिणी के कालिख-पुते हाथ के स्पर्श से उसके अपने ही मुँह पर काला धब्बा पड़ गया। उसे देखकर उसके पति ने मुस्कराते हुए कहा : 'अब तो तुम्हारा मुख सचमुच चन्द्रमा ही बन गया है; क्योंकि कलंक की जो कमी थी, वह भी पूरी हो गई है।'

इस प्रकार की एक-दो नहीं, सात सौ गाथाएँ हैं, जो भाव और रस के एक-एक समुद्र की तरह हैं। इस विलक्षण कृति से न केवल कवि को शाश्वतता मिली है, अपितु प्राकृत को भी अनन्य अमरता प्राप्त हो गई है। वैदर्भी शैली में निबद्ध यह गीतिकाव्य अलंकार और व्यंग्य की चरमोत्कर्षता से काव्य के उत्तुंग शिखर पर आसीन हो गया है।

वज्जालग्ग :

हाल की 'गाथासप्तशती' की परम्परा में 'वज्जालग्ग' ('व्रज्यालग्न') का अन्यतम स्थान है। इस गीतिकाव्य में भी अनेक प्राकृत-काव्यों के सुभाषित-मुक्तक आकलित हैं। इस काव्य का आकलन श्वेताम्बर मुनि **जयवल्लभ** ने किया है। इसमें ७९५ गाथाएँ गुम्फित हैं।

'वज्जालग्ग' नाम के औचित्य में हमारा सविवेचन अनुमान है : 'वज्जा' = 'व्रज्या' साधु या भिक्षु के परिचंक्रमण[1] या विहार को कहते हैं। बौद्धों में 'चारिक' प्रसिद्ध है। **मुनि जयवल्लभ** ने अपने परिचंक्रमण के क्रम में गाथाओं को एकत्र सम्बद्ध[2] ('लग्ग = 'लग्न') किया और इसका नाम 'वज्जालग्ग' ('व्रज्यालग्न') रख दिया। किन्तु, डॉ० **नेमिचन्द्र शास्त्री** के इस तर्क में भी बड़ी शास्त्रीयता और बल है कि 'वज्जा' शब्द देशी है। इसका अर्थ अधिकार या प्रस्ताव है। एक विषय

१-२. द्रष्टव्य 'व्रज्या' तथा 'लग्न' शब्दों का अर्थ, वामन शिवराम आप्टे : संस्कृत-हिन्दी-कोश, द्वि० सं०, पृ० ९९३ तथा ८६६।

से सम्बद्ध गाथाएँ एक 'वज्जा' के अन्तर्गत आती हैं। 'भर्त्तृहरिशतक' से तुलना करते हुए डॉ० शास्त्री ने अपने कथन की पुष्टि में कहा है कि जिस प्रकार भर्त्तृहरि के नीतिशतक में पद्धतियाँ हैं और एक पद्धति में एक विषय के गीत सकलित हैं, उसी प्रकार एक 'वज्जा' में एक विषय से सम्बद्ध गाथाएँ संगृहीत हैं।''

मुनि जयवल्लभ ने अपनी इस महत्त्वपूर्ण गीतिकाव्य-कृति में जहाँ सज्जन का पावन चित्र खींचा है, वहीं दुर्जन की दुरन्तता की निर्घृण कहानी भी कही है। संस्कृत-साहित्य में भी सज्जन-वर्णन मिलता है; किन्तु 'वज्जालग्ग'कार ने सज्जनों का जैसा उत्कृष्ट-और उदात्त वर्णन किया है, वैसा **भर्त्तृहरि** ने क्या, संस्कृत के किसी कवि ने भी नहीं किया है। वर्णन-विदग्ध इस कवि ने एक ओर सती सन्नारी की शुचि-रुचिर रूपच्छवि प्रस्तुत की है, तो दूसरी ओर असती के चांचल्य का भी उत्तेजक चित्रण किया है। कवि को कच-कुच के वर्णन की आसक्ति है, तो कृष्ण, रुद्र और आदित्य की आराधना के प्रति अखण्ड अनुराग भी। वह एक वस्त्रव्यवसायी की तसवीर जितनी तल्लीनता से उतारता है, उतनी तन्मयता से ही एक लेखक का ललित रूपांकन करता है। कहना न होगा कि 'वज्जालग्ग' में विषयों की अपारता है और वर्णन की विशालता। सामाजिक चित्रों की केवल असंख्यता ही नहीं है, अभिरामता भी है। सचमुच, यह गीतिकाव्य सम्पूर्ण मानव-जीवन का रम्य एवं अन्तरंग चित्र-संग्रह है।

रचनाकार एवं रचनाकाल : **मुनि जयवल्लभ** हालकवि से परवर्त्ती थे, इस बात की पुष्टि 'वज्जालग्ग' की गाथा में प्रयुक्त 'हाल'[१] शब्द से होती है। **डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री** के अनुसार इसका रचनाकाल चौथी शती होना चाहिए।[२] संवत् १३९३ वि० में **रत्नदेवगणी**-कृत संस्कृत-टीकावाली प्रति में **हेमचन्द्र** और 'सन्देशरासक' के लेखक **अब्दुर्रहमान (अद्दहमाण)** की गाथाएँ भी संकलित हैं। **डॉ० शास्त्री** ने अनुमान किया है कि उक्त दोनों लब्धकीर्त्ति कवियों की गाथाएँ **जयवल्लभ** द्वारा संगृहीत नहीं हैं, टीकाकार ने पीछे से जोड़ दी हैं। इससे एक बात यह खुलती है कि **जयवल्लभ** के बाद भी इस काव्य में विभिन्न गाथाओं को संकलित करने की परिपाटी रही।

वैशिष्ट्य : अनुभूति एवं भावसम्पदा तथा शिल्प-शैली की दृष्टि से 'वज्जालग्ग' 'गाथासप्तशती' से उन्नीस नहीं पड़ता है। 'गाथासप्तशती' का प्रभाव जिस प्रकार संस्कृत के **आचार्य गोवर्द्धन** और **अमरुक** पर तथा हिन्दी के **बिहारी** ('बिहारी सतसई'), **दयाराम** ('दयाराम सतसई') आदि पर पड़ा, उसी प्रकार 'वज्जालग्ग' के प्रभाव ने **भामह, भर्त्तृहरि, पण्डितराज जगन्नाथ** आदि संस्कृत के काव्यधुरीणों एवं

---

१. द्र० प्राकृत-साहित्य का इतिहास (तथैव), पृ० ५८४।

२. प्रा० भा० सा० आ० इतिहास (तथैव), पृ० ३७८।

तुलसीदास, रहीम आदि हिन्दी के काव्य-कलाविदों को आकृष्ट किया। कुल मिलाकर, भारतीय समाज की विवशता-विमुक्तता के मर्म से परिचित करानेवाला यह गीति-मुक्तककाव्य नूतन शिल्प-संयोजन एवं वैविध्यमूलक जीवन-दर्शन की दृष्टि से प्राकृत का अक्षय कीर्त्तिमान बन गया है।

प्राकृत की उक्त दो मुक्तक-मणियों के अतिरिक्त 'गाथासाहस्री' (समय सुन्दरगणि : १७वीं शती), 'प्राकृतपुष्करिणी' (डॉ० जगदीशचन्द्र जैन) आदि और भी कतिपय गीति-मुक्तककाव्य हैं, जो प्राकृत की गीतिकाव्य-परम्परा को प्रवाहशील सिद्ध करते हैं।

(ख) भक्त्यात्मक स्तोत्र-गीतिकाव्य :

भक्ति भी एक रस ही माना गया है, इसलिए भक्त्यात्मक स्तोत्रगीतिकाव्य को भी हम रसात्मक या रसानुगामी काव्य कह सकते हैं। भक्तिपरक स्तोत्र-गीतिकाव्यों में भी रस और अलंकार की छटा का अपना एक विच्छित्तिपूर्ण विन्यास रहता है। प्राकृत के स्तोत्र-गीतिकाव्य सांसारिक दुःख से मुक्ति तथा जीवन के आध्यात्मिक उत्थान-तत्त्वों का सन्देश-वाहन तो करते ही हैं, गीतिकाव्य के अन्तर्निहित सुमनोरम शिल्प की समृद्धि का संकेत भी भक्तिभावपूर्ण स्तोत्र या प्रार्थना के माध्यम से देते हैं।

प्राकृत-काल में भक्ति की जो रसमयी धारा मुक्तक-गीतिकाव्य के माध्यम से प्रवाहित हुई, उसमें सरसता, विदग्धता, कातरता आदि की अजस्र उपधाराएँ भी गतिशील हुईं। भक्ति मूलतः आध्यात्मिक प्रेम ही है, जिसकी अभिव्यंजना सांसारिक अनुभूति एवं उसके उपयुक्त भावाकुलता से समृद्ध हुई। धर्म और तीर्थंकरों के प्रति प्रेम केवल लोकोत्तर विभूतियों का लोकोत्तर प्रेम न था, अपितु प्रेम की अलौकिकता या पारलौकिकता का भी प्रतिपादक था। इस प्रसंग में तीर्थ और तीर्थंकरों की अलौकिकता की रूपाभिव्यक्ति हुई ही, मानवीय मनोविकारों, भावों और चेष्टाओं का भी मनोरम वर्णन हुआ।

प्राकृत के भक्तिस्तोत्रगीतिकाव्य :

प्राकृत के भक्तिपरक स्तोत्र-मुक्तक कई शैलियों में निबद्ध हैं। इन शैलियों में उपदेश-शैली, आत्माभिव्यंजन-शैली, कथात्मक शैली और तथ्यपरक शैली का आग्रह-अभिनिवेश अधिक रहा। सच पूछिए, तो भक्त्यात्मक स्तोत्र-गीतिकाव्य ने प्राकृत-काव्यविधा को सैद्धान्तिक और शास्त्रीय अनुशासन प्रदान किया है और प्राकृत-काव्यशास्त्र ने एक नवीन शान्तोज्ज्वल गति अर्जित की है। प्राकृत के भक्तिस्तोत्रपरक गीतिकाव्यों में 'धम्मरसायण' (पद्मनन्दि), 'ऋषभपंचाशिका' (धनपाल), 'उवसग्गहरस्तोत्र' (भद्रबाहुस्वामी), 'अजियसंतिथय' (नन्दिषेण), 'शाश्वतचैत्यस्तव'

(देवेन्द्रसूरि), 'भवस्तात्राण' (धर्मघोषसूरि), 'निर्वाणकाण्ड' (दिगम्बर-सम्प्रदाय में अतिशय प्रतिष्ठित), 'लब्धजितशान्तिस्तवन' (जिनवल्लभसूरि), 'निजात्माष्टक' (आचार्य योगेन्द्रदेव), 'अरहंतस्तवन' (समन्तभद्र), 'नमुक्कारफलपगरण' (जिनचन्द्र सूरि) आदि अनेक स्तोत्र हैं, जिनमें जैनदर्शन के तथ्य निरूपित हुए हैं, तो अलंकारों और भावों की माधुर्य-वर्षा भी की गई है। साथ ही, इन स्तोत्र-गीतिकाव्यों में भारत की सांस्कृतिक चेतना का चटुल चरणन्यास भी मिलता है। कुल मिलाकर, इनमें जागतिक निराशा, विषाद, पीडा, विवशता और मुक्ति की आकुलता ही गेय हुई है, और इस गेयता में अर्थ की आन्तरिकता सुप्रतिष्ठित हुई है।

अर्थ की आन्तरिकता एवं मृदु पदशय्या की दृष्टि से मानतुंग का 'भक्तामरस्तोत्र', बप्पभट्ट का 'सरस्वतीस्तोत्र', हेमचन्द्र का 'वीतरागस्तोत्र', आशाधर का 'सिद्धगुणस्तोत्र', जयानन्द का 'जयस्तोत्र' आदि स्तोत्र-गीतिकाव्य पारगामी प्रसिद्धि का स्पर्श करनेवाले हैं।

प्राकृत के स्तोत्र-गीतिकाव्य की परम्परा का अध्ययन संस्कृत के उल्लेख्य स्तोत्र-गीतिकाव्यों—जैसे पुष्पदन्त का 'महिम्नःस्तोत्र', मयूरभट्ट का 'मयूरशतक' पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी', बाणभट्ट का 'चण्डीशतक', इसी प्रकार 'आनन्दलहरी', 'मोहमुद्गर' एवं सम्पूर्ण 'बृहत्स्तोत्ररत्नाकर'—की परम्परा के सन्दर्भ में करने पर ही प्राचीन भारतीय स्तोत्र-वाङ्मय की विभूति का सम्यक् परिचय प्राप्त हो सकेगा।

(ग) नीतिपरक गीतिकाव्य :

नीतिपरक गीतिकाव्य की रसात्मकता प्रत्यक्ष परिपुष्ट होती नहीं परिलक्षित होती, किन्तु नीतिकाव्य के मूलतत्त्व—शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्था-स्थिति आदि काव्य के परिप्रेक्ष्य में निरूपित किये जाते हैं। नीति-गीतिकाव्य के कर्त्ता यदि थोड़ी भी असतर्कता बरतें, तो उनके द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था केवल-मात्र व्यवस्था ही रह जाय और उनका तद्विषयक गीतिकाव्य शास्त्रकोटि में दाखिल हो जाय। इसलिए, नीतिशास्त्र को गीतिकाव्य या मुक्तक का विषय बनाना श्रम एवं प्रतिभासाध्य तो है ही, इसके बावजूद उसके विशुद्ध शास्त्र बन जाने का खतरा भी सहज ही है। प्राकृत-भाषा के अधिकांश नीति-मुक्तक शास्त्र न होकर गीतिकाव्य की वरेण्यता से विमण्डित हैं। सच पूछिए, तो नीतिपरक गीतिकाव्य, गुरुसम्मित उपदेश को कान्तासम्मित शैली में उपस्थित करने का एक ललित आयास है।

प्राकृत के नीति-मुक्तकों में उपनिषद् के अतिरिक्त, चाणक्य, भर्तृहरि प्रभृति नीतिकारों के संस्कृत-नीतिकाव्यों की परम्परा का अनुसरण लक्षित होता है। भारतीय वाङ्मय में नीति या सूक्तियों की परिपाटी अथर्ववेद से आरम्भ होती है। उपनिषद्-काव्य में नीति एवं जागतिक जंजालों की जटिलता और फिर उसकी

असारता का निरूपण बड़ी भास्वर भाषा में हुआ है। शरीर की नश्वरता एवं आत्मा की अमरता का जो स्वर उपनिषदों ने उठाया, उसे नीति-मुक्तककारों ने व्यावहारिक स्तर प्रदान किया। कहना यह कि जीवन की ग्रन्थिलता की कड़वी औषधि को काव्य-शर्करा के आवरण में जन-जीवन के लिए सहज पेय बनाने का प्रशंसनीय कार्य नीति-गीतिकाव्य के अमर गायकों ने किया। इनकी नीति-गीतियों में तात्कालिक एवं तत्कालीन युगबोध का संयोजन ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक जागरण का सुदृढ संघटन भी है। उपदेश एवं जीवनोपयोगी सामग्री का, छन्दों की गत्यात्मक क्षमता एवं काव्य की भावचेतना के धरातल पर हृदयावर्जक संचयन नीतिपरक गीतिकाव्यों की अपनी विशेषता है।

प्राकृत-काव्यों में नीति-मुक्तक :

प्राकृत-काव्यों में नीति-मुक्तकों का आरम्भ आगम-ग्रन्थों से हुआ है। प्राकृत-वाङ्मय क्रान्तिमूलक है। अतएव, इसमें नीतियों का काव्योपदेश संस्कृत के नीतिकाव्यों की शैली से थोड़ा विशिष्ट है। प्राकृत के कवि उपनिषदों के समानान्तर ही आचार एवं विचारपरक धार्मिक मान्यताओं का विनियोग करते रहे हैं। गम्भीर भावों को सरल एवं जनग्राह्य बनाने की दिशा में 'अनेकान्त'वादी विचारधारा का प्रवर्त्तन प्राकृत-कवियों की विशिष्ट साहित्यिक-सारस्वत देन है। जीवन-मूल्यों का यथायथ फलप्रद अंकन प्राकृत के नीतिकार कवियों का निरन्तर ध्येय रहा। नीति-काव्य की पारिभाषिक विवेचना करते हुए **डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री** के विचार ठीक ही हैं कि शारीरिक आवश्यकताओं की कोटि से ऊपर उठने पर ही आध्यात्मिक आवश्यकताओं की अनुभूति होती है। अतः, नीति के कर्त्ता कवि जनजीवन में उतरकर आचार के नियम और सिद्धान्त निश्चित करते हैं और ये ही नियम काव्यशैली में निबद्ध होकर 'नीतिकाव्य' की संज्ञा आयत्त करते हैं। इसीलिए, नीतिकाव्यों में व्याख्यात्मक शैली या प्रश्नोत्तर-शैली का प्रचलन हुआ है। ऐसे मुक्तकों को डॉ० शास्त्री ने 'रसेतर मुक्तक' हा है, और इसी आधार पर हम इन्हें 'शान्त-मुक्तक' कह सकते हैं।

नीति के प्राकृत-'शान्त-मुक्तकों' में 'वैराग्यशतक' (नामकरण भर्त्तृहरि के 'वैराग्यशतक' पर आधृत) और लक्ष्मीलाभगणिकृत 'वैराग्यरसायनप्रकरण' को पांक्तेयता प्राप्त है। 'वैराग्यशतक' में १०५ गाथाएँ हैं। इनमें शरीर, यौवन और धन की अस्थिरता का चित्रण कर वैराग्य उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। इससे इतर 'वैराग्यरसायनप्रकरण' में १०२ गाथाएँ हैं। इस गीतिकाव्य का कवि रूपक और उपमा का कुबेर है। रूपक का एक उदाहरण :

करुणाकमलाइन्ने आगमउज्जलजलेण पडिपुन्ने।
बारसभावणहंसे झीलह वेरग्गपउमदहे॥ (२०)

यहाँ कवि ने वैराग्य को पद्मसरोवर माना है; क्योंकि उसमें आगम का जल भरा है। करुणा की कमलकर्णिका खिली हुई है। उसमें बारह भावना-हंस किलोल करते रहते हैं। उस वैराग्य-सरोवर में साधक को स्नान कर अपने को पूत-पावन बनाना चहिए।

प्राकृत-संस्कृत के गीति-मुक्तककाव्यों का पारस्परिक आदान-प्रदान :

प्राकृत तथा संस्कृत के गीतिकाव्यों ने परस्पर शिल्प और कथ्य का प्रचुर आदान-प्रदान किया है। प्राकृत-गीतिमुक्तक के सन्दर्भ में **गोवर्द्धनाचार्य** ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'प्राकृत की समुचित रसवाणी ही शृंगारिक रचना है।' निस्सन्देह, प्राकृत में प्रेम-सम्बन्धी कविताओं के उत्कृष्ट आदर्श मिलते हैं। **कालिदास** को छठी शती ईसवी का कवि माननेवाले 'मेघदूत' पर 'गाथासप्तशती' एवं 'वज्जालग्ग' का प्रभाव पाते हैं। किन्तु, ई० पू० प्रथम शती में स्थित **कालिदास** की कविता पर उक्त दोनों प्राकृत-ग्रन्थों का प्रभाव निर्विवाद्य विषय नहीं है। यद्यपि 'गाथासप्तशती' और 'मेघदूत' की गीति-कविताओं में भावसाम्य का आद्भुत्य तो है ही। 'अमरुकशतक' के अनेक पद्य 'गाथासप्तशती' से प्रभावित हैं। 'अमरुकशतक' के प्रसिद्ध ७७वें पद्य 'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनात्' आदि पर 'गाथासप्तशती' की इस गाथा (१·२०) का प्रभाव-स्पर्श स्पष्ट है :

अलिअपसुत्तअविणिमीलिअच्छदे सुहअ मज्झ ओआसं।
गण्डपरिउंबणापुलइ अंग ण पुणो चिराइस्सं॥

इस तरह, एक नहीं, अनेक उदाहरण प्रस्तोतव्य हैं। **भर्त्तृहरि** के शतकत्रय पर भी प्राकृत-गाथाओं का प्रभाव सुस्पष्ट है। 'भर्त्तृहरिशतक' के प्रसिद्ध श्लोक 'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता' आदि पर 'गाथासप्तशती' की निम्नांकित गाथा (२·२६) की भावविभूति द्रष्टव्य है :

सा तुज्झ वल्लहा तं सि मज्झ वेसो सि तीअ तुज्झ अहं।
बालअ फुडं भणामो पेम्मं किर बहुविआरं त्ति॥

इसके अतिरिक्त, **गोवर्द्धन** की पूरी 'आर्यासप्तशती' पर तो 'गाथासप्तशती' का अक्षुण्ण प्रभाव सर्वस्वीकृत है। हाल की प्रस्तुत गाथा (२·८२)

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअंती।
दिअहं अणाण्णकम्मा अंगं तणुअंपि तणुएइ॥

—को **गोवर्द्धन** ने अपनी आर्या में इस प्रकार अभिनिविष्ट किया है :

प्रददति नापरासां प्रवेशमपि पीनतुङ्गजघनोरुः।
या लुप्तकीलभावं जाता हृदि बहिरहस्यापि॥ (३७४)

स्पष्ट है कि **गोवर्द्धन** ने 'गाथासप्तशती' की न केवल शैली, अपितु शब्दावली का भी अनुकरण किया है, वह इससे आपाततः अनुप्राणित हुए हैं।

निष्कर्ष : इस प्रकार, प्राकृत के गीति-मुक्तककाव्य ने संस्कृत के गीति-मुक्तककाव्य को जहाँ बहुत कुछ दिया है, वहीं इसने उससे (संस्कृत से) बहुत कुछ लिया भी है। 'मेघदूत' से प्राकृत-अपभ्रंश में दूतकाव्य की परम्परा का सूत्रपात हुआ, तो 'सन्देशगीति' से पत्रगीति का विकास प्राकृत में हुआ। अतएव, यह स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं कि गीतिकाव्य के सन्दर्भ में, शृंगार, करुणा आदि भावों की अभिव्यक्ति में शैल्पिक दक्षता की दृष्टि से प्राकृत-काव्य की परम्परा पर्याप्त प्रौढ एवं उपादेय है। साथ ही, गीतिकाव्य या मुक्तक के अनुशीलन के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के गीति-मुक्तककाव्यों के समानान्तर अध्ययन के निमित्त उनमें अन्तर्निहित महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की गवेषणा अपेक्षित है।

अध्ययन ३

प्राकृत-नाटकों (सट्टकों) में संस्कृत-नाटकों के समानान्तर अध्ययन के तत्त्व

पूर्णतः प्राकृत-भाषा में निबद्ध नाट्यकृति को 'सट्टक' की संज्ञा दी गई है। नाट्याचार्यों द्वारा परिगणित दस प्रकार के रूपकों और अट्ठारह प्रकार के उपरूपकों में भाण, डिम, वीथी, त्रोटक, सट्टक, गोष्ठी, प्रेंखण, रासक, हल्लीसक और भाणिका चूँकि लोकनाट्य के प्रकार हैं, इसलिए अनुमान है कि ये मूलतः प्राकृत में ही रहे होंगे। रूपक-उपरूपक के उक्त भेदों में प्रायः वे ही पात्र हैं, जो प्राकृत में कथोपकथन करते हैं। यह निर्विवाद है कि प्राकृत-भाषाओं का प्रथम नाटकीय प्रयोग संस्कृत के रूपकों में उपलब्ध होता है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' (१७।३१।४३) में धीरोदात्त और धीरप्रशान्त नायक, राजमहिषी, गणिका एवं श्रोत्रिय ब्राह्मण आदि के लिए संस्कृत तथा श्रमण, तपस्वी, भिक्षु, तापस, स्त्री, नीच जाति और नपुंसकों के लिए प्राकृत बोलने का विधान है। 'नाट्यशास्त्र' के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत-नाटकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इनमें उच्च वर्ग के पुरुष, अग्रमहिषियाँ, राजमन्त्रियों की पुत्रियाँ, वेश्याएँ आदि संस्कृत तथा साधारणतया स्त्रियाँ, विदूषक, श्रेष्ठी, नौकर-चाकर आदि निम्नवर्गीय पात्र प्राकृत में बातचीत करते हैं। इससे संस्कृत और प्राकृत-नाटकों की भाषिकी मिश्रणगत उभयनिष्ठता पर आधृत उस सांस्कृतिक चेतना की सूचना मिलती है, जिसका पारस्परिक आदान-प्रदान उक्त दोनों भाषाओं के नाटकों में होता रहा है। इसीलिए, संस्कृत-नाटकों के तत्त्व की सही थाह की प्राप्ति प्राकृत-नाटकों के अनुशीलन से ही सम्भव है।

प्राक्कालीन संस्कृत और प्राकृत के नाटक :

पुराकाल में संस्कृत और प्राकृत में अनेक नाटक रचे गये। किन्तु, संस्कृत में जितने नाटक उपलब्ध होते हैं, उतने प्राकृत में नहीं। इस स्वल्पता के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से अनुमान के अश्व दौड़ाये गये हैं। अबतक के अनुमानों का निष्कर्ष यही है कि राजाश्रयता के कारण प्राकृत-नाटकों के कुछ अंश संस्कृत में रूपान्तरित हो गये। 'मृच्छकटिक', 'त्रिपुरदाह', 'रैवत-मदनिका', 'विलासवती', 'मेनकाहित', 'बिन्दुमती' आदि नाटक पहले प्राकृत में निबद्ध रहे होंगे, फिर शनैः-शनैः

संस्कृत-छाया के व्यवहार-बाहुल्य के कारण मिश्रित भाषा में कर दिये होंगे। इसी बात को थोड़ा घुमाकर यों कहा जा सकता है कि सट्टकों की भाँति नाटक भी पूर्णतः प्राकृत में निबद्ध रहे हों, जो संस्कृत की प्रभाव-प्रचुरता के कारण रूपान्तरित हो गये या उनका अस्तित्व ही निश्चिह्न हो गया। परवर्त्ती काल में तो प्राकृत-अंशों की संस्कृत-छाया की व्यवहारप्रबलता के कारण प्रसिद्ध नाटककार **राजशेखर** (नवीं शती) ने अपनी 'बालरामायण' के प्राकृत-अंशों को संस्कृत-छाया में परिवेषित किया। जैसा कि इस ग्रन्थ की भूमिका में प्राकृत के भाषिक विकास पर विचार के क्रम में लिखा गया है, धीरे-धीरे प्राकृत भी संस्कृत की तरह साहित्यिक भाषा में परिणत हो गई और प्राकृत के व्याकरणों की नियम-सीमा में प्राकृत-काव्यों की रचनाएँ होने लगीं। इस प्रकार, प्राकृत की भाषिकी असीमता ससीम बन गई और इसकी जनव्यापकता की महोदधि परिधिबद्ध हो गई। इस बात के साक्ष्य हैं द्रविडदेशीय कवि **रामपाणिवाद** और **रुद्रदास**। इन्होंने **वररुचि** और **त्रिविक्रम** के प्राकृत-व्याकरणों के नियमों की लक्ष्मणरेखा के भीतर ही रहकर प्राकृत-काव्यों और सट्टकों की रचना की। उक्त बातों से स्पष्ट है कि प्राकृत के सट्टकों और संस्कृत के नाटकों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। दोनों के अनिवार्य गम्भीर अध्ययन करने पर ही दोनों के बीच के सूक्ष्मान्तर को परिलक्षित किया जा सकता है।

भारतीय नाटकों की परम्परा और विकास :

भारतीय अध्यात्म इस विश्व को ही एक रंगशाला मानता है। इसलिए, ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में नाटकों की परम्परा की अतिप्राचीनता की बात आश्चर्यंकर नहीं। आंशिक रूप में उपलब्ध **अश्वघोष** के नाटकों की प्रौढता से सहज ही यह अनुमान किया जाता है कि भारतवर्ष में **भास, कालिदास** और **शूद्रक** के पूर्व भी नाटकों की व्यवस्थित रचना-शृंखला विद्यमान थी। **भरतमुनि** ने अपने पूर्ववर्त्ती एवं समवर्त्ती नाटकों के अध्ययन के बाद ही नाट्यनियमों को एक सुव्यवस्थित रूप देने के निमित्त 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। हालांकि, उन्होंने अपने 'नाट्यशास्त्र' में बताया है कि ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रसतत्त्व ग्रहण कर पाँचवें नाट्यवेद का निर्माण किया।[1] संस्कृत-नाटकों के अधीती डॉ० कीथ आदि आधुनिक विद्वानों ने वैज्ञानिक अध्ययन-अनुसन्धान के आधार पर नाटक के उद्गम के सम्बन्ध में कई विचारधाराएँ उपस्थित की हैं। नाटक के प्रधान तत्त्व संवाद, संगीत, नृत्य और अभिनय हैं। अधिकांश

---

१. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ (१।७)

विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि चूँकि उक्त चारों तत्त्व वेद में उपलब्ध हैं, इसलिए नाटकों की उत्पत्ति और उनका विकास वैदिक सूक्तों या वैदिक साहित्य से हुआ है। लोक-प्रचलित नृत्य-संगीत के उपकरणों से नाट्योत्पत्ति माननेवालों का भी एक वर्ग मिलता है। इस वर्ग के मनीषी अग्रणी श्रीजगदीशचन्द्र माथुर ने अपनी महार्घ कृति 'परम्पराशील नाट्य'[1] में नाट्योत्पत्ति में लोकतत्त्व के योगदान के सम्बन्ध में बड़ी विशदता से प्रामाणिक चर्चा प्रस्तुत की है।

वेद से अधिक स्पष्ट नाटकोल्लेख रामायण और महाभारत-काल में मिलता है। पाणिनि (४।३।११०) ने भी नटसूत्र और नाट्यशास्त्र की चर्चा की है। पतंजलि के महाभाष्य (३।२।१११) में 'कंसवध' और 'बालिबन्धन' नामक दो नाटक स्पष्टतया उल्लिखित हैं। इससे भारत की नाटक-परम्परा की प्राचीनता का स्पष्ट पता चलता है और इस नाटक-परम्परा का विकास विभिन्न रूपों में, विविध परिवेश में होता रहा।

संस्कृत में नाटक को दृश्यकाव्य कहा गया है। महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक'[2] के अनुसार, नाटक और काव्य—दोनों का मूलोद्देश्य आनन्द-प्राप्ति है। किन्तु, दोनों का गौण उद्देश्य उपदेश एवं व्युत्पत्ति भी विधि-निषेध के रूप में प्राप्त है। स्पष्ट यह कि नाटक और काव्य दोनों का उद्देश्य एक होते हुए भी इसकी प्राप्ति के साधनों में भिन्नता है। इसलिए, ऐसा कहा जा सकता है कि नाटक की उत्पत्ति मूलतः लोक-तत्त्वों से हुई और विकसित होने पर वही नाटक काव्य बन गया और आरम्भ में 'नाटक' की जगह 'रूपक' शब्द के व्यवहार का ही प्रचलन अधिक रहा।

सट्टक का उद्भव और विकास :

दशरूपककार धनंजय ने रूपक के दस भेद (नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथि और प्रहसन) गिनाये हैं, किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने पाठ्यकाव्य के बारह भेद कहे हैं। उन्होंने ये बारह भेद धनंजय के उक्त दस भेदों में नाटिका और सट्टक को जोड़कर बताये हैं। किन्तु, रामचन्द्र गुणचन्द्र ने ये बारह भेद नाटिका और प्रकरणी को मिलाकर लिखे हैं, साथ ही 'अन्यान्यपि च रूपकाणि' कहकर सट्टक आदि उपरूपकों का निर्देश किया है। सच पूछिए, तो उपरूपकों को व्यवस्थित करने का श्रेय साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ महापात्र को है। इनके समय तक अट्ठारह उपरूपकों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और गणना-क्रम में सट्टक को चौथा स्थान प्राप्त था : 'नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्'। (प० ६, का० ४)

---

१. प्रकाशक: बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-४।

२. व्यक्तिविवेक, अ० १, पृ० २०।

कुछ विद्वानों के अनुसार, नाटिका और त्रोटक रूपक हैं और कुछ विद्वान् उन्हें उपरूपक मानते हैं। इसी प्रकार की बात 'सट्टक' के बारे में भी लागू है। किन्तु, स्मरण रखना है कि जिस प्रकार नाटिका और प्रकरण सम-पांक्तेय हैं, उसी प्रकार नाटिका और सट्टक भी एक ही वृन्त के दो फूल जैसे हैं।

व्युत्पत्ति :

रूपक और उपरूपक के भेदों के क्रमिक विकास का कोई पुष्ट ऐतिहासिक आधार नहीं प्राप्त होता। यथाप्राप्त तत्त्वों के सहारे केवल एक आनुमानिक परम्परा की ही स्थापना सम्भव है। 'सट्टक' शब्द की व्युत्पत्ति के क्रम में प्राकृत के प्रसिद्ध पण्डित डॉ० ए० एन्० उपाध्ये[1] ने जो तर्क उपस्थापित किया है, उसमें पर्याप्त शास्त्रीय बल है। उन्होंने लिखा है : सम्भवतः 'सट्टक' शब्द द्राविड-भाषा का है। 'क' प्रत्यय को हटा देने पर इसमें दो शब्द रह जाते हैं—स और अट्ट (या) आट्ट। द्राविड के भाषाकोश में 'आट्ट' या 'आट्टम्' का अर्थ नृत्य या अभिनय होता है। 'आट्ट' शब्द मूल धातु 'अड्ड' या 'आड्ड' से बना है, जिसका अर्थ नाचना या हाव-भाव दिखलाना है। निष्कर्ष यह कि नृत्ययुक्त नाटकीय प्रदर्शन (स + अट्ट-क) ही 'सट्टक' है।

आचार्य विश्वनाथ के सट्टक-लक्षण के परिप्रेक्ष्य में विचार करें, तो डॉ० उपाध्ये की उक्त व्युत्पत्ति में, जिसमें सट्टक को नृत्याभिनय के लक्षणों से युक्त बताया गया है, अधिक युक्तियुक्तता है। विश्वनाथ ने सट्टक की जो पहचान[2] दी है, उसमें प्राकृताशेष-पाठ्यता, प्रवेशक-रहितता, विष्कम्भक-विहीनता, रस की अद्भुतता, अंक की जगह 'जवनिका' का प्रयोग आदि बातें कहकर शेष लक्षण को 'नाटिका-सम' बताया है। 'नाटिका' का मुख्य लक्षण 'संगीत-व्यापृता' कहा गया है। यानी, सट्टक को भी संगीत-व्यापृत होना चाहिए। और, संगीत का अर्थ है : वह गान, जो नृत्य तथा वाद्ययन्त्रों के साथ गाया जाय : ('गीतं वाद्यं नर्त्तनं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते')।[3] कहना यह कि आचार्य विश्वनाथ ने भी सट्टक को नृत्यगीतवाद्य-प्रधान माना है, जो डॉ० उपाध्ये के तर्क को ही परिपुष्ट करता है।

सट्टक की प्राचीनता :

लक्षणग्रन्थों में उपलब्ध सट्टक की चर्चाओं से डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री[4] ने यह

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य 'चन्दलेहा', अँगरेजी-प्रस्तावना, पृ० २६।
२. साहित्यदर्पण, प० ६, का० २७६।
३. द्रष्टव्य : 'संस्कृत-हिन्दी-कोश' : वामन शिवराम आप्टे (द्वि०सं०), पृ० १०५८।
४. प्रा० भा० सा० आ० इतिहास (तथैव), पृ० ४११।

सार निकाला है कि सट्टक का विषय प्रेमप्रधान होना चाहिए। वृत्तियों में कैशिकी और भारती की स्थिति सट्टक के लिए आवश्यक है। नृत्य-प्रधान होने के कारण सट्टक एक प्राचीन नाट्यविधा है। डॉ० शास्त्री का अनुमान है कि सट्टक का प्रचार ग्यारहवीं शती से पूर्व ही हो चुका था और यह नाट्यविधा भी अन्य नाट्य-विधाओं की तरह लोकरूपों में विकसित होकर साहित्यिक रूप लेने लगी थी। सट्टक की प्राचीनता को पुष्ट करते हुए डॉ० शास्त्री अपने तर्क-विस्तार में कहते हैं: "प्राकृत-भाषा में सट्टक का लिखा जाना भी उसकी प्राचीनता का सबल प्रमाण है। ई० पू० २०० के भरहुत के शिलालेख में प्रयुक्त 'सादिक' या 'सट्टिक' शब्द भी 'सट्टक' का पूर्वरूप ज्ञात होता है। ऐसा मालूम होता है कि जनता के बीच सट्टक का प्रचार ई० सन् के पूर्व ही था और यह इतना अधिक जन-मानस में समाहित हो गया था कि लक्षणकारों का ध्यान इस लोकनृत्याभिनय की ओर बहुत काल तक नहीं जा सका।"[१]

स्पष्ट है कि प्रारम्भ में सट्टक को कोई विशिष्ट स्थान नहीं प्राप्त था। धीरे-धीरे उसमें रूप-परिष्कार और विशिष्टता आई, जिससे वह राजाओं एवं सम्भ्रान्त व्यक्तियों की रुचि-परितृप्ति का कारण बन गया।

सट्टक का स्वरूप और वैशिष्ट्य :

जैसा कहा गया है, **आचार्य विश्वनाथ** के अनुसार, सट्टक पूर्णतया प्राकृत-भाषा में निबद्ध होता है। इसमें प्रवेशक-विष्कम्भक का राहित्य और अद्भुत रस का प्राधान्य आवश्यक है। इसमें 'अंक' के स्थान पर 'जवनिका' व्यवहृत होती है। 'कर्पूरमंजरी' में स्वयं **राजशेखर** ने सट्टक को नाटिका का अनुहर्त्ता बताया है :

सो सट्टओ त्ति भणइ दूरं जो णाडिआइं अणुहरइ।
किं उण एत्थ पवेसअविक्कंभाई ण केवलं होंति ॥(१।६)[2]

विश्वनाथ ने 'सट्टक' को 'नाटिका' का समजातीय माना है। तदनुसार, नाटिका के समान ही सट्टक का कथ्य काल्पनिक होता है। श्रृंगार रस की इसमें प्रधानता होती है। प्रख्यात धीरललित राजा इसके चरितनायक होते हैं, जिनकी महारानियाँ प्रगल्भा और मानिनी हुआ करती हैं, साथ ही वे स्वभाव से गम्भीरता का निर्वाह करनेवाली एवं राजकुलोत्पन्न होती हैं। अपने राजा की सभी नायिकाओं

---

१. प्रा० भा० सा० आ० इतिहास (तथैव), पृ० ४११।

२. 'चंदलेहा' के कवि रुद्रदास ने भी सट्टक की परिभाषा में लगभग यही बात कही है।—द्र० चंदलेहा, १।५।

या रानियों में उन्हें 'ज्येष्ठा' नायिका का स्थान प्राप्त रहता है। गर्वस्फीत महारानी से छिटके हुए राजा, यानी नायक का किसी नवीन मुग्धा रूपवती राजकुमारी से समागम होता है। अन्तःपुर आदि के सम्बन्ध से देखने-सुनने का अवसर मिलने के कारण इन दोनों में उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता जाता है। नायक अपनी मानिनी महिषी से भीतर-ही-भीतर आतंकित रहता है, किन्तु नवीन नायिका की ओर उसकी प्रवृत्ति बराबर उन्मुख बनी रहती है। स्त्रीराज्य, श्रृंगार-वर्णन और राजा का अपनी महिषी के शासन के वशंवद होना आदि भी सट्टक के अनिवार्य वर्ण्य विषय की सीमा में आते हैं। नायक अपने राज्यभार को मन्त्रियों पर सौंपकर भोग-विलास के विन्यास में विनिमग्न रहता है। ऐहिक आनन्द की प्राप्ति ही उसका जीवनोद्देश्य होता है। उसके प्रणय-व्यापारों में विदूषक अन्तरंग सहायक बनता है। स्त्रीप्रधान सट्टकों की संज्ञा प्रायः नायिका के नाम से सम्बद्ध रहती है। इसीलिए, राजशेखर ने प्राकृत-रचित सट्टक को महिला की भाँति मृदुल और संस्कृत-निबद्ध नाटक को पुरुष-परुष कहा है।[1]

इस प्रकार, सट्टक की साहित्यिक उपलब्धि का अपना पारम्परिक महत्त्व है, जिसे प्राकृत-कवियों ने अपने शास्त्रीय ज्ञान, प्रतिभा और परम्परा को आत्मसात् करने की शक्ति के द्वारा महामहिम बना दिया है।[2] और, यही कारण है कि नाटकों के अध्ययन के सन्दर्भ में सट्टकों का समानान्तर अध्ययन अपनी नितान्त आपेक्षिकता रखता है। यहाँ हम कतिपय सट्टकों का संक्षिप्त सविवेचन विवरण उपस्थित करना चाहेंगे।

कर्पूरमंजरी :

गणना में हठात् अँगुलियों पर आनेवाले सट्टकों में 'कर्पूरमंजरी' का सर्वप्रथम उल्लेख होता है। इसके मूलकथ्य का हर्षदेव के नाटक 'रत्नावली' के कथानक से ततोऽधिक साम्य है। इसमें राजा चण्डपाल और कुन्तल-राजकुमारी कर्पूरमंजरी का प्रणय-वृत्त चित्रित है। यह सट्टक चार जवनिकान्तरों में समाप्त होता है। कथानक की लघुता तथा चरित्र-चित्रण की अविशदता के बावजूद इसमें कई ऐसी साहित्यिक विशेषताएँ हैं, जिनमें चमत्कारिता तो है ही, मार्मिकता भी है। चूंकि, 'कर्पूरमंजरी' के पूर्व 'रत्नावली' की रचना हो चुकी थी, इसलिए कवि

---

१. परुसा सक्किअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं ॥(१।८)

२, विशेष अध्ययन के लिए द्र० : 'एन् इण्ट्रोडक्शन टु कर्पूरमंजरी' : डॉ० आर्० पी० पोद्दार, प्र० : प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली (बिहार)।

राजशेखर अपनी इस रचना की स्वतन्त्रता सिद्ध करने के लिए प्रायः सचेष्ट दिखाई पड़ता है। संस्कृत-नाटकों में प्रशस्तियों द्वारा आश्रयदाता नरेशों के यश को चिर-स्थायी बनाने की कवि-चिन्ता स्पष्टतया व्यक्त मिलती है। 'कर्पूरमंजरी' जैसे प्राकृत-सट्टकों में भी सम्राट्-सम्राज्ञी-स्तवन उसी परम्परा के अन्तर्गत है।

रचनाकार : रचनाकाल : 'कर्पूरमंजरी' का रचयिता प्रसिद्ध यायावरवंशीय **राजशेखर** है जो संस्कृत के प्रख्यात लक्षणग्रंथ 'काव्यमीमांसा' का यशोधन कृतिकार है। यायावर-वंश कवियों के प्रसव में 'कल्पतरु' के रूप में प्रख्यात था। इसी कुल में **अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज** आदि अनेक अप्रतिमप्रतिभ कवि उत्पन्न हुए थे। राजशेखर महाराष्ट्रचूडामणि अकालजलद का प्रपौत्र था और इसने पुत्र-रूप में अपने पिता दर्दुक और माता शीलवती की गोद को सनाथ किया था। इसने क्षत्रियवंशोद्भवा चौहान-रमणी **अवन्तिसुन्दरी** से अनुलोम विवाह किया था। **अवन्तिसुन्दरी** संस्कृत और प्राकृत की प्रकाण्ड पण्डिता थी और अपने पति की 'कर्पूरमंजरी' का अभिनय-आयोजन उसी ने कराया था।[1]

राजशेखर ने अपनी उस विदुषी पत्नी के 'पाक'-विषयक विशिष्ट मत का उल्लेख 'काव्यमीमांसा' में बड़े गौरव के साथ किया है। 'पाक' के विषय में **आचार्य वामन** कहते हैं कि काव्य में पद-विन्यास इतना मंजुल होना चाहिए कि उसे अपने स्थान से हटाया जाना सम्भव न हो। किन्तु, **अवन्तिसुन्दरी** ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा कि यह कवि के काव्यकर्म की दुर्बलता है कि एक पद को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे अनुरूप पद को सुप्रयुक्त नहीं किया जा सके। **हेमचन्द्र** ने 'देशीनाममाला' में **अवन्तिसुन्दरी** के 'देशीशब्दकोश' का उल्लेख किया है तथा उसके द्वारा कई शब्दों के जो नये अर्थ किये गये हैं, उनकी भी चर्चा की है। इससे हमारा यह अनुमान पुष्ट होता है कि **अवन्तिसुन्दरी** को प्राकृत-कविता में न केवल रुचि और प्रीति थी, अपितु प्राकृत की परख भी उसमें अद्भुत थी। राज-शेखर यद्यपि मूलतः संस्कृत का कवि था, किन्तु प्राकृत में भी इसकी गहरी पैठ थी और अपनी प्राकृतप्रिया प्रेयसी के अनुकूल मनोरंजन के निमित्त ही इसने प्राकृत में 'कर्पूरमंजरी' जैसे मधुर-मनोज्ञ सट्टक की रचना की होगी।

राजशेखर महाराष्ट्र का निवासी था। परन्तु कान्यकुब्जेश्वर **महेन्द्रपाल** (जिसके दरबार में आसन और दो पान की प्राप्ति बड़े भाग्य की बात थी : 'ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्') का गुरु था। राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में अपने लिए 'बालकवि', 'कविराज' 'सर्वभाषाचतुर' आदि विशेषणों

---

१. "चाउहाणकुलमोलिआलिआ राअसेहरकइंदगेहिणी।
भत्तुणो किदिमवंतिसुंदरी सा पउंजइदुमेदमिच्छदि ॥" (१।११)

का उपयोग किया है, जिससे इसकी पाण्डित्य-दृप्ति प्रकट होती है। यह अपने आश्रयदाता राजा महेन्द्रपाल के उत्तराधिकारी पुत्र महीपाल का सभासद-संरक्षक भी रहा।

सियदोनी-शिलालेख के अनुसार, महेन्द्रपाल का तिथिकाल सन् ९०३-४ और ९०७-८ ई० के बीच निर्धारित किया गया है। अतः, राजशेखर का स्थितिकाल सन् ९०० ई० होना चाहिए या दसवीं शती का पूर्वार्द्ध और 'कर्पूरमंजरी' का रचना-काल भी इसी के आसपास सम्भव है। 'काव्यमीमांसा' लिखकर ही राजशेखर ने 'कविराज' की पदवी आयत्त की थी। इसकी उल्लेख्य नाट्यकृतियों में 'कर्पूरमंजरी' के अतिरिक्त, 'विद्धशालभंजिका', 'बालरामायण' और 'बालभारत' या 'प्रचण्डपाण्डव' जैसी लोकाभिनीत कृतियों का 'यत्परो नास्ति' महत्त्व है।

वैशिष्ट्य : शौरसेनी-प्राकृत में निबद्ध 'कर्पूरमंजरी' सट्टक आद्यन्त श्रृंगार एवं प्रेम से पर्यावृत है। इसमें हावभावविशिष्ट 'चर्चरी' नामक नृत्य का प्रयोग मिलता है। पदलालित्य, छन्दःसमृद्धि एवं गीति-सौन्दर्य के साथ ही अनुप्रास-माधुर्य एवं वर्णन-वैचित्र्य का विलक्षण समवाय इस सट्टक को अपूर्व दीप्ति प्रदान करता है। तृतीय जवनिकान्तर में विदूषक का स्वप्न-वर्णन इस सट्टक के कवि को हास्यरस का विचक्षण विनियोजक प्रमाणित करता है। जीवन की सामन्तीय विभूति के नागर संस्कारों से सम्पन्न 'कर्पूरमंजरी' सामासिक विन्यास, व्यवस्थित प्रयोग, संस्कारपूर्ण भाषा तथा परिमार्जित रुचि की अनन्य नाट्यकृति है, जिसका अध्ययन संस्कृत-नाटकों के शिल्प-कौशल, अभिव्यक्ति-सामर्थ्य, मार्मिक अभिव्यंजना एवं भावशबलीकरण की सांकेतिक समृद्धि के परिवेश में होना अपेक्षित है।

चंदलेहा :

पारशव-वंश-विमण्डन कवि रुद्रदास-विरचित 'चंदलेहा' (डॉ० ए० एन्० उपाध्ये द्वारा सम्पादित तथा मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित संस्करण) को भावसमृद्ध सट्टकों में पांक्तेयता प्राप्त है। इस सट्टक में भी चार जवनिकान्तर हैं। इसमें मानवेद तथा चन्द्रलेखा के प्रणयोत्तर विवाह का वर्णन है। कथावस्तु की संघटना-पद्धति में 'कर्पूरमंजरी' की अनुकृति-सी प्रतीत होती है।

रचनाकार : रचनाकाल : 'चंदलेहा' का कृतिकार पारशववंशीय **रुद्रदास** कवि रुद्र और श्रीकण्ठ का शिष्य था। पारशव-वंश साहित्यिक भाषा-साहित्य के प्रचारक-प्रसारक के रूप में ऐतिहासिक गौरव से समुज्ज्वल माना जाता है। कवि रुद्रदास कालिकट (केरल) का निवासी था एवं संस्कृत-प्राकृत-भाषाओं में समान अधिकार रखनेवाले कवियों का मुकुटमणि माना जाता था। सन् १६६० ई० में

भारत की धरती इस कवि के जन्म से गौरवान्वित हुई थी और इसी समय के आस-पास इसने 'चंदलेहा' का प्रणयन किया था।

रचना-वैशिष्ट्य : सट्टक में, चूँकि अद्भुत रस का विनियोजन आवश्यक है, इसलिए 'प्राकृतप्रकाश'-सम्मत महाराष्ट्री में निबद्ध 'चंदलेहा' के कथातत्त्व में कौतूहल-तत्त्व के प्रति विशेषाग्रह परिलक्षित होता है। घटनाएँ नाटकीय ढंग से प्रवाहित होती हैं। मदनातुर चन्द्रलेखा से मानवेद का कदलीगृह में मिलन का दृश्य न केवल रोचक है, अपितु उत्तेजक भी है। काव्यात्मक सौन्दर्य के साथ ही इसमें सट्टक के समस्त गुणों का भी समायोजन हुआ है। प्रेमतत्त्व के विकास की दृष्टि से इस सट्टक की समृद्धि श्लाघ्य है। शृंगाररस-प्रधान ओजःपूर्ण गौडी शैली में निबद्ध समासान्त पदावली से इसमें तनिक कृत्रिमता का वातावरण बनता है, परन्तु प्राकृतिक दृश्यों की सप्राण विनियोजना कृत्रिमता-जनित ऊब से साफ बचा ले जाती है। संस्कृत का प्रभावस्पर्श भी इसमें स्पष्ट है, साथ ही वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' को रचनाधार बनाकर कवि अपनी इस नाट्यकृति को असहजता के अभिशाप से बचा नहीं पाया है। हालाँकि, भाषा-प्रवाह की दृष्टि से कवि की रचनाप्रौढि चेतश्चमत्कारिणी है। एक गाथा में नवचन्द्र का चित्रण द्रष्टव्य है :

चन्दणचच्चिअसव्वदिसंतो चारुचओरसुहाइ कुणंतो।
दीहपसारिअदीहिइबुंदो दीसइ दिण्णरसो नवचंदो॥ (३।२१)

अर्थात्, समस्त दिशाओं को चन्दन से चर्चित करता हुआ, सुन्दर चकोर को सुख देता हुआ, अपनी किरणों को दूर-दूर तक फैलाता हुआ सरस नवीन चन्द्रमा दिखाई पड़ रहा है।

गीति, पृथ्वी, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा आदि पन्द्रह प्रकार के छन्दों में आबद्ध इस सट्टक में नारी-सौन्दर्य का बड़ा ही उत्तुंग उभार रूपायित हुआ है। इसकी गद्यात्मक प्रौढता की सरसता को 'उत्तररामचरित' के गद्य के समानान्तर रखकर देखने पर ही इसका सही मूल्यांकन हो सकता है।

आनन्दसुन्दरी :

कवि घनश्याम-कृत 'आनन्दसुन्दरी' की गणना मौलिक सट्टकों में होती है, किन्तु इसके नाम पर 'कर्पूरमंजरी' सट्टक की अवन्तिसुन्दरी के नाम का प्रभाव प्रत्यक्ष है। कवि घनश्याम को भी अकालजलद की तरह 'महाराष्ट्रचूडामणि' शब्द से अलंकृत किया जाता है। कवि संस्कृत, प्राकृत और देशी—इन तीनों भाषाओं में एक समान कविता करने की क्षमता रखता था।

रचनाकार : घनश्याम कवि को यायावर-कवि राजशेखर के परिदृश्य में रखकर ही सही मूल्यांकन किया जा सकता है। गर्वोक्ति का धनी इस कवि ने भी,

राजशेखर की तरह, अपने को 'सर्वभाषाकवि' घोषित किया है। इस सट्टक में कवि ने अपना जो परिचय (२।५-६) उट्टंकित किया है, उससे पता चलता है कि इसके पिता का नाम 'महादेव', माता का नाम 'काशी', दादा का नाम 'चोण्डाजिबालाजि', बड़े भाई का नाम 'ईश' और बहन का नाम 'शाकम्भरी' था। कवि के दो पत्नियाँ थीं—सुन्दरी और कमला। ये दोनों अवन्तिसुन्दरी के समान ही परम विदुषी थीं और कवि घनश्याम को काव्यकर्म में सारस्वत सहयोग प्रदान करती थीं। घनश्याम ने चौंसठ कृतियाँ संस्कृत में, बीस रचनाएँ प्राकृत में और पच्चीस ग्रन्थ देशी भाषा में लिखे हैं। कवि-स्वीकृत विषयों में नाटक, काव्य, चम्पू, व्याकरण, अलंकार, दर्शन आदि हैं। इन कृतियों में ही 'आनन्दसुन्दरी' सट्टक परिगण्य है। कवि की कारयित्री प्रतिभा का पता इसी से लगाया जा सकता है कि इसने कुल बाईस वर्षों की अल्पजीवनावधि में ही 'आनन्दसुन्दरी' जैसी उत्कृष्ट नाट्यकृति की संरचना की।

रचना-वैशिष्ट्य : 'आनन्दसुन्दरी' में गुणज्ञ और प्रतापी सम्राट् **शिखण्डचन्द्र** एवं अंगराज की कन्या **आनन्दसुन्दरी** की प्रणयोत्तर परिणय-कथा चित्रित की गई है। कथातत्त्व में, सट्टक के लक्ष्य में लक्षण की सटीक संगति हुई है। कवि ने इस सट्टक में दो गर्भ-नाटकों की योजना करके अपना यह परम्परेतर मौलिक अभिमत व्यक्त किया है कि सट्टक की परिपूर्णता के लिए गर्भ-नाटकों की योजना अनिवार्य है। इसमें भी विदूषक का हास्य पूए पर चीनी की मिठास उड़ेलता है।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने मूल कथावस्तु को देखकर यह अनुमान लगाया है कि कवि इस सट्टक के कथ्य को संस्कृत में सोचा और उसे प्राकृत में लिपिबद्ध कर दिया। इसी कारण, इसमें 'कर्पूरमंजरी' वाली सहज सरसता की तरल मार्मिकता नहीं पाई जाती। वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' को कवि ने अपना भाषाधार बनाया है। इसमें संस्कृत के शब्द भी यत्र-तत्र प्रयुक्त हैं। कुल मिलाकर, काव्यकला की दृष्टि से इस सट्टक की उत्तमता अनाहत है।

'मेघदूत' की गीति-मधुरिमावाली मन्दाक्रान्ता की मनोहारिता का प्रभाव निम्नांकित पद्य में द्रष्टव्य है। राजा के वियोग की मर्मव्यथा का रसाक्त चित्रण इस प्रकार है :

अच्चुण्हा मे पिहुलपिहुला होंति णीसासदण्डा
जीहा सुक्खा सलिल-कलिलं लोअणं तत्तमंगं।
कव्वाआमं वजइ णिमिसो कण्ठणालो सिढिल्लो
दीहामोहा ण रुचइ जणो हंत तीए विओए ॥ (२।१३)

कहना न होगा कि नाटकों के परवर्त्ती विकास के क्रम में प्रस्तुत सट्टक का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

रंभामंजरी :

यह सट्टक 'कर्पूरमंजरी' से अनुप्रेरित-अनुप्राणित है। यह कहना असंगत नहीं होगा कि जिस प्रकार 'मेघदूत' परवर्त्ती समस्त दूतकाव्यों या गीतिकाव्यों को अनुप्राणित करता रहा, उसी प्रकार 'कर्पूरमंजरी' परवर्त्ती समग्र सट्टकों की आदर्श पीठिका बनी रही। 'रंभामंजरी' नाम भी 'कर्पूरमंजरी' के प्रभावस्पर्श की स्पष्ट सूचना देता है। किन्तु, इसमें जवनिकान्तर तीन हैं। 'आनन्दसुन्दरी' की भाँति इसमें भी संस्कृत के प्रयोग मिलते हैं। भाषा का यह मिश्रण इस बात की ओर संकेत करता है कि इन दोनों कृतियों के कर्त्ता मूलतः संस्कृत के कवि हैं, किन्तु इन्होंने प्राकृत में लिखने का अनुशंसनीय आयास किया है।

रचनाकार : 'रंभामंजरी' के रचयिता **नयचन्द्रजी** वैष्णवोत्तर जैन मुनि हैं। ये **प्रसन्नचन्द्र** के अन्तेवासी थे। कवि को 'षड्भाषाविशारद' कहा गया है। अपनी इस कृति पर संस्कृत की काव्य-परम्परा के प्रभावस्पर्श को स्वीकार करते हुए कवि ने स्वयं कहा है कि **श्रीहर्ष** और **अमरचन्द्र** ही उसके इस प्रस्तुत काव्य के उपजीव्य रहे हैं। **अमरचन्द्र** के पदलालित्य तथा श्रीहर्ष की व्यंग्योक्ति ग्रहण करने के नाते वह उनकी अधमर्णता सहर्ष स्वीकार करता है :

नयचन्द्रकवेः काव्यं रसायनमिहाद्भुतम्।
सन्तः सुदन्ति जीवन्ति श्रीहर्षाद्याः कवीश्वराः॥
लालित्यममरस्येह श्रीहर्षस्येव वक्रिमा।
नयचन्द्रकवेः काव्ये दृष्टं लोकोत्तरं द्वयम्॥ (१।१७-१८)

इस कवि द्वारा की गई 'हम्मीर-महाकाव्य' की रचना की भी सूचना मिलती है। स्तोत्र-गीतिकाव्य भी इसने लिखे हैं। इसका स्थितिकाल १४वीं शती का पूर्वार्द्ध निश्चित किया गया है।

रचना-वैशिष्ट्य : इस सट्टक में तीन ही जवनिकान्तर हैं, जो इसकी अपूर्णता को संकेतित करते हैं। इसमें वाराणसी के राजा **जैत्रचन्द्र** और लाटनरेश **देवराज** की पौत्री **रम्भा** की प्रणय-परिणयकथा रोमांचक शैली में उपस्थित की गई है। यौनोष्मा या काम-परितृप्ति की चामत्कारिक रमणीयता को काव्य-सम्पन्नता की कमनीय चारुता पर कसनेवाला यह सट्टक कवि द्वारा 'कर्पूरमंजरी' से श्रेष्ठ बनाये जाने की होड़ में पिछड़ गया है। इसकी अन्तिम फलप्राप्ति भी साकांक्ष रह गई है और उद्देश्य अनवगत। अन्त में, पाठकों पर लादी गई जिज्ञासा का बोझ उसके

अपने ही मस्तिष्क को झुँझलाहट से भर देता है। निर्मर्याद यौनसुख का अनुभव करनेवाले नायक का चरित्र पूरी तरह निखरकर उभर नहीं सका है। उन्मुक्त यौनमेध के लिए ही नायिका रम्भा का अपहरण अपने-आपमें अनभिजात्य संस्कार का द्योतक है। इस प्रकार, कथावस्तु मौलिक होते हुए भी रोचक नहीं बन पाया है। फिर भी, वर्णन की विपुलता एवं भावों की रसमयता की दृष्टि से काव्य अनवद्य एवं आस्वाद्य है। कवि ने वसन्तागम के क्षणों में शिखरिणी छन्द की गेयता में विरहिणी का व्यथाविद्ध वर्णन इस प्रकार किया है :

मयंको सप्पंको मलयपवणा देहतवणा
कहू सद्दो रुद्दो सुमसरसरा जीविदहरा।
वराईयं राई उवजणइ णिद्दंपि ण खणं
कहं हा जीविस्से इह विरहिया दूरपहिया ॥ (१।४०)

उन्मुक्त यौनजीवन, अनुपम रसिकता एवं ललित प्रसंगों के आयोजन सट्टकों में सहज प्राप्य हैं। 'रंभामंजरी' में ऐसे ललित प्रसंगों का पर्याप्त उपबृंहण हुआ है।[१]

उपरिविवेचित सट्टकों के अतिरिक्त विश्वेश्वर की 'सिंगारमंजरी' (काव्यमाला-संस्करण, भाग ८) तथा साहित्यदर्पणोक्त 'विलासवइ' (प्राकृतसर्वस्वकर्त्ता मार्कण्डेय-कृत)— इन दो सट्टकों का भी नाम-कीर्त्तन किया जाता है। उक्त दोनों रचनाएँ १७-१८वीं शती के पूर्वार्द्ध काल की घोषित की गई हैं। 'विलासवइ' तो अनुपलब्ध, किन्तु 'उल्लिखित' ग्रन्थ है। 'सिंगारमंजरी' का कर्त्ता विश्वेश्वर लक्ष्मीधर का पुत्र था। इसकी इस कृति में भास, कालिदास और हर्ष के नाटकों का अनुकरण पाया जाता है। फिर भी, कवि की स्थापना-पद्धति अपनी है और भाषा-शैली में वैदर्भी रीति का समावेश बड़ा ही सशक्त है।

संस्कृत-नाटकों में प्राकृत :

संस्कृत-नाटकों में प्राकृत के प्रयोग की दृष्टि से अश्वघोष का 'शारिपुत्र-प्रकरण'; भास के 'अविमारक' और 'चारुदत्त'; शूद्रक का 'मृच्छकटिक'; कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र' एवं 'विक्रमोर्वशीय'; श्रीहर्ष के 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' और 'नागानन्द'; भवभूति के 'महावीरचरित' 'उत्तरराम-चरित' और 'मालतीमाधव'; विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस'; भट्टनारायण का 'वेणी-

१. विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य है 'रंभामंजरी' का डॉ० आर० पी० पोद्दार द्वारा सम्पादित तथा प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली द्वारा प्रकाशित संस्करण।

संहार' और सोमदेव का 'ललितविग्रहराज' विशेष चर्चा के विषय हैं। इन नाटकों का सट्टकों के सन्दर्भ में सापेक्षिक अध्ययन जबतक नहीं होगा, तबतक न हम संस्कृत की बहुभाषोपजीव्यता से परिचित हो सकेंगे, न ही प्राकृत के संस्कृत-सहगामी स्वतन्त्र विकास की व्यापकता को अवगत कर पायेंगे। अतः, आवश्यकता इस बात की है कि संस्कृत की प्रत्येक साहित्य-विधा का प्राकृत-साहित्य के समानान्तर अध्ययन किया जाय।

प्राकृत-अंशमिश्रित संस्कृत के नाटक संस्कृत-प्राकृत के समानान्तर अध्ययन के निमित्त अपने-आप में उचित उदाहरण हो सकते हैं। नाटकों में प्राकृत के प्रथम प्रयोक्ता अश्वघोष (सन् १०० ई०) हैं। इनके नाटकों में मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसेनी के प्राचीनतम रूप समुपलब्ध हैं। इनके नाटकों की प्राकृत-भाषाएँ अशोक के शिलालेखों की प्राकृतों से साम्य रखती हैं। अश्वघोष-परवर्त्ती भास (सन् २०० ई०) के 'अविमारक' तथा 'चारुदत्त' में शौरसेनी-प्राकृत का प्राधान्य है। शूद्रक (५वीं शती) ने अपने 'मृच्छकटिक' में शौरसेनी और मागधी-प्राकृत का प्रयोग किया है, तो कालिदास (ई० पू० प्रथम शती : अन्यमत छठी शती ई० तक) ने अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र' एवं 'विक्रमोर्वशीय' में प्राकृत के गद्यांश को शौरसेनी में रखा है और पद्यांश को महाराष्ट्री में। श्रीहर्ष (छठीं-सातवीं शती) अपने नाटकों में महाराष्ट्री और शौरसेनी के प्रयोक्ता हैं, तो भवभूति (सातवीं शती) शौरसेनी के प्रयोगाग्रही। विशाखदत्त (नवीं शती) ने शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का व्यवहार किया है, तो भट्टनारायण (आठवीं शती के पूर्व) शौरसेनी को ही प्रमुखता देते हैं। सोमदेव ने भी विशाखदत्त की तरह ही महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी का प्रयोगाग्रह प्रदर्शित किया है।

उपर्युक्त विश्वविश्रुत नाटककारों के अतिरिक्त महादेव (१७वीं शती) द्वारा लिखित जयदेव के प्रभावस्पर्श से ओतप्रोत 'अद्भुतदर्पण' नाटक है, जिसमें इसने प्राकृत का प्रयोग किया है। इसी सन्दर्भ में शीलांकाचार्य के 'चउप्पन्नमहापुरिसचरियं' में 'विबुधानन्द' नाम का एकांकी लिखा है, जो मंचन के योग्य है। इसमें संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं के संवाद प्राप्त हैं।

निष्कर्ष :

इस प्रकार, स्पष्ट है कि संस्कृत के नाटककारों ने जहाँ प्राकृत की संवाद-संरचना को महत्त्व दिया है, वहीं प्राकृत के नाटककारों ने संस्कृत में संवाद-संयोजन किया है। फलतः, दोनों भाषाओं की नाट्यकृतियों—नाटकों और सट्टकों में निहित तत्त्वों के समानान्तर अध्ययन से ही तत्कालीन भाषिक स्थिति के साथ-साथ राज-नयिक गतिविधि, सामाजिक-धार्मिक जीवन एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के अविकल प्रतिमान की प्राप्ति होगी और हम संस्कृत-प्राकृत-साहित्य में निर्दिष्ट विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना एवं कलाबोध तक समचरण हो सकेंगे।

अध्ययन ४

प्राकृत-कथासाहित्य में संस्कृत-कथासाहित्य के समानान्तर अध्ययन के तत्त्व

प्राकृत-कथाओं का उद्भव और विकास :

कथा-साहित्य को हम मनोरंजक एवं ललित साहित्य कह सकते हैं। मानवीय सृष्टि के साथ ही कथा का भी आविर्भाव हुआ। कथा-साहित्य की सारस्वत समृद्धि के आधार पर ही किसी देश की सभ्यता की उच्चावचता को आँका जाता है। कथा की सम्पन्नता की दृष्टि से भारतवर्ष निश्चय ही अतिशय सौभाग्यशाली है। भारतीय साहित्य में कथा की अनेक विधाएँ उपलब्ध होती हैं : जैसे वार्त्ता, आख्यान, कथानक, आख्यायिका, दृष्टान्त, उपाख्यान आदि। अमरकोषकार ने तो प्रबन्ध-कल्पना को कथा कहा है (१।५।६)। वेद, उपनिषद् और पुराण कथा के आदिस्रोत हैं। 'ऋग्वेद,' 'ब्राह्मण', 'उपनिषद्', 'महाभारत' और 'रामायण' में तो अनेक रोचक-रंजक एवं उन्मेषक-उत्तेजक कथाएँ मिलती हैं। मानव-हृदय में जिज्ञासा और कुतूहल की परतें जमा करके उन्हें पुनः क्रम-क्रम से उभारने की अद्‌भुत शक्ति कथा में निहित रहती है। इसीलिए, कथा के श्रोता में कथाकार से सुने हुए कथाभाग से आगे का भाग सुनाने का आग्रह रहता है। किन्तु काव्य-श्रोता में, ठीक इसके विपरीत, एक ही विषय को बार-बार दुहराने का आग्रह पाया जाता है। यही कारण है कि आलोचकों ने भाषा एवं विषय के प्रवाह को कथा के लिए अनिवार्य शर्त्त माना है। इस दृष्टि से सोमदेवभट्ट का 'कथासरित्सागर' कथा-साहित्य का निस्सन्देह पार्यन्तिक प्रकाशन है।

संस्कृत-वाङ्मय के अतिरिक्त बौद्ध-वाङ्मय की जातक-कथाएँ कथा-साहित्य के अक्षय कोष हैं। पैशाची में निबद्ध गुणाढ्य की 'बड्ढकहा' (बृहत्कथा) न केवल अनुपम कथा-भाण्डार है, अपितु सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता का ललित इतिहास है। जैनविद्वान् पूर्णभद्रसूरि का संस्कृत में लिखा गया 'पंचतन्त्र' इतना लोकप्रिय हुआ कि लोग यह भी भूल गये कि वह किसी जैन मनीषी की कथाकृति है। शिक्षित या अर्द्धशिक्षित या अशिक्षित लोगों में जीवन जीने की नीतिसंगत पद्धति के गूढातिगूढ रहस्यों की भी सुखबोधता या प्रेषणीयता के लिए कथा अवश्य ही सर्वोत्कृष्ट साधन या माध्यम है, बशर्त्ते लोककथा को लोकभाषा में ही सुनाया जाय। हितोपदेशकार

विष्णुशर्मा ने तो कथा के ही छल से उन्मार्गगामी राजपुत्रों को नीति की बातें सिखाई थीं : 'कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ।'

आगम-साहित्य में कथा-विन्यास :

अर्द्धमागधी और शौरसेनी में निबद्ध आगम-साहित्य में कथाएँ सूत्रशैली में उपलब्ध होती हैं और इन आगम-कथाओं का पूर्ण विकास निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका-साहित्य में हुआ है । आगमकालीन कथाओं का वैशिष्ट्य इस मानी में है कि वे उपमाओं, दृष्टान्तों आदि के मधुर-ललित माध्यम से जनजीवन को धर्ममार्ग की ओर सहसा आकृष्ट करती हैं । आगम-साहित्य एक ओर जहाँ भव की अभव्यता, लौकिक वैभव की व्यर्थता, व्यक्तिगत विरति एवं वैराग्य का भव्य संयोजन है, वहीं दूसरी ओर उसमें अनुभूति की तीव्रता, वेदना की उन्निद्रता और भावकल्प का विलक्षण विनियोग मिलता है । फिर भी, आगमकालीन कथाओं में, संक्षेपीकरण की पद्धति के समायोजन से, वर्णन की समग्रता का स्वारस्य नहीं प्राप्त होता । किन्तु, व्याख्यायुगीन कथाओं ने आगमकालीन कथाओं में प्राप्य मनोरंजन और कुतूहल-तत्त्व के अभाव की साग्रह पूर्त्ति की, साथ ही कथा की समग्रता के आस्वाद की अन्तरंगता को भी विस्तार दिया । वर्णनात्मक कल्प के मनोरम वैलक्षण्य की दृष्टि से व्याख्या-युगीन कथाओं का सचमुच महान् महत्त्व है ।

मूल आगम-साहित्य में कथाओं के मुख्यतः तीन रूप मिलते हैं : अर्थकथा, धर्मकथा और कामकथा ।[1] आचार्य हरिभद्र ने मिश्रकथा को जोड़कर इनके चार प्रकारों की उद्भावना की ।[2] किन्तु, शैली की दृष्टि से कथाओं के पाँच भेद उपलब्ध होते हैं : सकल-कथा, खण्ड-कथा, उल्लाप-कथा, परिहास-कथा और संकीर्ण-कथा । कहना न होगा कि आगम-कथा-साहित्य परिणाम और परिमाण दोनों दृष्टियों से व्यापक और विशाल है । किन्तु, स्मरण रखना है कि आगमिक कथा-साहित्य की महत्ता मानव-मंगल एवं राष्ट्रकल्याण की दृष्टि से सामाजिक संस्कार तथा लोकमर्यादा को मण्डित करने में है, यद्यपि उसका धार्मिक आग्रह ही अधिक मुखर है । फिर भी, प्राकृत-कथासाहित्य का आदिस्रोत आगम-साहित्य है ।

प्राकृत की कथाएँ तो, चाहे वे आगमिक हों या आगमोत्तर, उपलक्ष्यमात्र हैं, लक्ष्य है तत्कालीन सांस्कृतिक-सामाजिक गतिविधि का विन्यास । निस्सन्देह, प्राकृत की कथाओं ने तद्युगीन सामाजिक व्यवहार-दर्शन को साहित्यिक कला-कल्प प्रदान किया है । लोकजीवन को प्रतिबिम्बित करने के क्रम में प्राकृत की कथाओं ने अनेक चारियों में संचरण किया है ।

---

१. ठाणांग (स्थानांग), ३।१८९ ।
२. दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, गाथा १८८ ।

प्राकृत-कथासाहित्य का विकास :

प्राकृत के कथा-साहित्य के विकास की दृष्टि से 'सूत्रकृतांग' एवं 'णायाधम्मकहाओ' को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। कथा-साहित्य के समृद्धिकारी तत्त्वों के प्रतिपादन की दृष्टि से 'उपासगदसाओ' एवं 'विवागसुत्त' भी अपनी महनीयता रखते हैं। क्रमबद्ध घटनाओं के आरोह-अवरोह की लयबद्धता के लिए 'विवागसुत्त' ('विपाकसूत्र') की द्वितीयता नहीं है। नीतिपरक तत्त्वों के उद्घोषक कथाग्रन्थों में 'व्यवहारभाष्य' और 'बृहत्कल्पभाष्य' उल्लेख्य हैं। इनमें कथा-विकास की परम्परा के सातत्य का संयोजन अद्भुत है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में 'कापिलीयसूत्र' आदि कतिपय ऐसी कथाएँ हैं, जो उत्तेजक होते हुए भी सन्तुलित भावों की सर्जना में सचेत हैं। 'आचारांगसूत्र' में भगवान् महावीर के द्वारा लाढदेश में चंक्रमण एवं परीषह-सहन के माध्यम से 'कल्याणमित्रों' के लाभ करने की कथा अपने-आप में पर्याप्त रोमांचक है एवं विस्मय-विमोहक भी। साधु-साध्वियों द्वारा पीडा के अभिनन्दन-वन्दन करने की दृष्टि से सम्पूर्ण 'आचारांगसूत्र' में अतिशय आश्चर्यकारी अन्तरंगता का उपसंहार हुआ है। श्रमण-संस्कार एवं जैन आचार का आत्मसम्बोधी तत्त्वदर्शन है 'आचारांगसूत्र'।

आगम-साहित्य की प्राकृत-कथाएँ विभिन्न आयामों में फैलकर भी अन्ततः धर्म को ही तत्त्वता का अन्तरंग निकष मानने की विवशता से सिमटी हुई प्रतीत होती हैं, किन्तु आगमेतर प्राकृत-कथाओं का विकास-फलक बड़ा चौड़ा है, जिसमें धार्मिक विवशता कशाघात करनेवाली नहीं है। आगमेतर श्रेय और प्रेयोमूलक प्राकृत-कथाओं का प्रेमशास्त्र से मन्त्रशास्त्र तक विकास इतनी विभिन्न विधाओं में हुआ कि उतनी विधाएँ संस्कृत-कथासाहित्य को उपलब्ध न हो पाईं। कहना न होगा कि आगमेतर प्राकृत-कथाओं में कल्पना-माध्यम की सशक्तता, भाषा का अभिनव सौन्दर्यबोध, भावों की रमणीयता और निश्छल गति, अभिव्यक्ति की कलात्मक भंगिमा एवं संरचनात्मक संघटन की सुश्लिष्टता का विमुग्धकारी विनियोग हुआ है। भाषा के नूतन संस्कार और नये मान-प्रतिमान की दृष्टि से आगमेतर प्राकृत-कथा-साहित्य का विकास अपनी स्वतन्त्र विवेचनीयता रखता है।

ईसवी-सन् की नवीं-दसवीं शती के पूर्व जैनाचार्य-लिखित प्राकृत के कथाग्रन्थों की संख्या अविचेय नहीं थी। उदाहरणार्थ : इस काल में चरितात्मक कथाग्रन्थ के नाम पर उल्लेखनीय थे : 'पउमचरिय', 'हरिवंसचरिय', 'तरंगवइ', या 'तरंगलोला', 'वसुदेवहिण्डी', 'समराइच्चकहा', 'कुवलयमाला', 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय', 'उपदेशमाला' आदि। किन्तु, ११वीं-१२वीं शती में जैनमनीषियों, विशेषकर श्वेताम्बर-आम्नाय के अधीतियों की राज्याश्रयी प्रतिभा ने कथा-चेतना का एक निर्दिष्ट रूप ले लिया और इसके अन्तर्गत विभिन्नमार्गी कथाओं की विपुल रचनाएँ

प्रकाश में आईं। इस काल में कथा-सम्बन्धी अवधारणाएँ निर्धारित हुईं और प्रयोजन-मूलकता से अधिक कथा-तत्त्व को महत्त्व मिला। भव्यता, रूपसज्जा और कला-विलास इस युग का कल्प बना। यद्यपि इस काल के कथाकारों का मूलाधार अर्द्धमागधी में निबद्ध जैनागम ही रहा, तथापि आगमोत्तरकालीन प्राकृत के कथाकारों के उपजीव्य बने। हरिभद्रसूरि। ये अपने युग के प्राकृत-कथासाहित्य के सुमेरु-शिखर थे। प्राकृत-कथासाहित्य का एक युग हरिभद्रसूरि का ही युग रहा। हरिभद्रसूरि-आम्नाय के इन कथाकारों ने हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण का गम्भीर अध्ययन किया और अपनी कथाओं में जैनधर्म के पारिभाषिक शब्दों का उपयोग अपने पाण्डित्य की स्वतन्त्र विच्छित्ति के लिए किया।

हरिभद्रसूरि-युग की प्राकृत-कथा के तत्त्व :

इस युग के कथाकार प्राकृत के समकक्ष ही संस्कृत और अपभ्रंश के पारंगत पण्डित थे तथा देशी भाषाओं की कहावतों और मुहावरों या शब्दों का यथेच्छ प्रयोग बड़ी कुशलता से कर सकते थे। इस समय, चूंकि प्राकृत-भाषाएँ व्यवहार-पद से उठ चुकी थीं और धार्मिक ग्रन्थों के रचनाकारों को भी आकृष्ट करने से असमर्थ हो गई थीं, इसलिए संस्कृत के बल पर वररुचि आदि के प्राकृत-व्याकरणों का अध्ययन कर लीलाशुक, श्रीकण्ठ, रुद्रदास, रामपाणिवाद आदि विद्वान् कवियों ने प्राकृत में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। यही कारण है कि संस्कृत की विशाल भाव-सम्पदा इनकी प्राकृत-रचनाओं में अनुस्यूत हो गई। और, संस्कृत के कथातत्त्व को प्राकृत में आत्मसात् करने का प्रयास यहीं से प्रारम्भ हुआ। इसलिए, इस काल की प्राकृत-कथा के तत्त्वों का यदि संस्कृत-कथाग्रन्थ के समानान्तर अध्ययन करेंगे, तो दोनों सखी-भाषाओं की अन्तरंग सहचारिता के अनेक ऐसे पक्ष उभरेंगे, जिनसे हमारा भाषिक अध्ययन सांगता प्राप्त करेगा।

जैनाचार्यों द्वारा संस्कृत-कथा-साहित्य में योग :

गुप्तकाल में प्राकृत का प्रभाव क्षीण हुआ, तो संस्कृत का संवर्द्धन परवान चढ़ने लगा। इस काल में धर्मशास्त्र, पुराण, दर्शन, व्याकरण, काव्य, नाटक, ज्योतिष, वैद्यक आदि विभिन्न विषयों पर पार्यन्तिक संस्कृत-ग्रन्थों की संरचना हुई। जैनाचार्यों की प्राकृतसिद्ध लेखनी संस्कृत-रचना में प्रखर हो चली। प्राकृत का स्थान संस्कृत ने आयत्त किया। अनेक मौलिक संस्कृत-कथाग्रन्थों की अवतारणा हुई। सिद्धर्षि (सन् ९०५ ई०) ने 'उपमितिभवप्रपंचकथा' लिखी, तो धनपाल ने 'तिलक-मंजरी' की रचना की। हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' का निर्माण किया, तो हरिषेण ने 'बृहत्कथाकोष' जैसे मानक कथाग्रन्थ की सर्जना की। इतना ही नहीं, लक्ष्मीवल्लभ ने उत्तराध्ययन की टीकाओं में उल्लिखित प्राकृत-कथाओं का

रूपान्तर भी प्रस्तुत किया। सिद्धर्षि ने प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत-रचनाओं का समर्थन करते हुए अपने कथाग्रन्थ के आरम्भ में लिखा कि 'संस्कृत और प्राकृत ये दो ही भाषाएँ प्रमुख हैं। इनमें संस्कृत दुर्विदग्धों के मन में अवस्थित है। उन्हें अज्ञों को सद्बोध प्रदान करनेवाली और कर्णमधुर प्राकृत-भाषा अच्छी नहीं लगती। किन्तु, उपायान्तर रहने पर सबका मनोरंजन करना चाहिए। अतएव, जनानुरोध पर यह रचना संस्कृत में प्रस्तुत है।'[1]

उक्त सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि जैन कथाकारों का किसी भाषा-विशेष के प्रति दुराग्रह नहीं था, अपितु अपनी कथाकृति की सर्जना में लोकानुवर्त्तन के प्रति ही उनका अधिक आग्रह था। अतएव, न केवल प्राकृत में, अपितु संस्कृत, अपभ्रंश एवं देशी भाषाओं (पुरानी हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि) में भी कथा-रचनाओं की संवृद्धि हुई, जिनमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति के साथ ही साहित्य के भाषा-रूपों और विचारों में साम्य-स्थापन का प्रयास स्पष्टता से उभरकर सामने आया। इस प्रसंग में जान हर्टल के शब्द महत्त्वपूर्ण हैं : 'जैनकथा-साहित्य केवल संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए ही उपयोगी नहीं, अपितु भारतीय सभ्यता के इतिहास पर इससे प्रभावक प्रकाश पड़ता है।'[2]

सारांश यह कि प्राकृत-कथाधारा में संकलित रचनाओं को संस्कृतधर्मी मानने का आग्रह निश्चयात्मक है। क्योंकि, प्राकृत-कथाकाव्य के प्रसंग में अन्य कवियों के साथ हरिषेण, प्रवरसेन, वाक्पतिराज आदि की चर्चा अनिवार्यतः होती है। कहना यह कि प्राकृत-साहित्य संस्कृत-साहित्य का प्रतिस्पर्द्धी भले ही हो, किन्तु प्रतिद्वन्द्वी कहना असंगत होगा। क्योंकि, वैसा मानने का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है।

---

१. संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः।
तत्रापि संस्कृता तावत् दुर्विदग्धहृदि स्थिता ॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते ॥
उपाये सति कर्त्तव्यं सर्वेषां चित्तरञ्जनम्।
अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्यते ॥

—उपमितिभवप्रपंचकथा, १।५१-५३। (डॉ० जगदीशचन्द्र जैन के 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास' से उद्धृत)

२. द्र० 'ऑन द लिटरेचर ऑव द श्वेताम्बर जैन्स' : लिपज़िग, सन् १६२२ ई०।

प्राकृत के चरितकाव्य एवं कथा-साहित्य :

प्राकृत के चरितकाव्यों और कथा-साहित्य के बीच कोई स्पष्ट सीमारेखा नहीं मिलती और अनेक समीक्षकों ने चरित-काव्य को कथा-साहित्य में ही परिगणित किया है। क्योंकि, चरितकाव्यों में प्राप्य कथातत्त्व न्यूनाधिकतया कथा-साहित्य के तत्त्व का ही स्पर्श करते हैं। फलतः, प्रबन्धात्मक चरितों का अन्तर्भाव प्रायः कथा-साहित्य में ही करने की परिपाटी प्राप्त होती है। परन्तु, विचार की सूक्ष्मता में प्रवेश करने पर यह अस्पष्ट नहीं रह जाता कि चरितकाव्यों का राग-तत्त्व और चरित्र-निरूपण की प्रणाली कथाओं की अपेक्षा भिन्न है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि चरितकाव्यों में निर्धारित चरित्र के अनुसार कथा गढ़ी जाती है और कथा-साहित्य में कथा के माध्यम से चरित्र का अंकन होता है। इसलिए, कथा-साहित्य को चरितकाव्य से इतर मानकर ही उसकी समुचित विवेचना होनी चाहिए।

हम यहाँ प्राकृत-कथा-साहित्य के कतिपय ऐसे महत्त्वपूर्ण कथाग्रन्थों की सविशेष चर्चा करना चाहेंगे, जो विश्वकथा-साहित्य के सन्दर्भ में अपना अनुपेक्षणीय अध्ययन-मूल्य रखते हैं।

तरंगवइ या तरंगलोला :

प्रस्तुत कृति से प्राकृत-कथासाहित्य में एक अभिनव कथा-परम्परा का प्रवर्त्तन हुआ है। प्राकृत-कथाग्रन्थों में इसकी प्राचीनता प्रख्यात है। इस कथाकृति एवं इसके कर्त्ता **पादलिप्तसूरि** का 'अनुयोगद्वारसूत्र' (१३०), 'निशीथविशेषचूर्णि', 'दशवैकालिकचूर्णि', 'विशेषावश्यकभाष्य' (गा० १५०८) आदि आगम-साहित्य में नामसमेत संकेत किया गया है। न केवल आगम-साहित्य, अपितु 'पाइयलच्छी-नाममाला' एवं 'तिलकमंजरी' के कर्त्ता **धनपाल**, 'सुपासनाहचरियं' के रचयिता **लक्ष्मणगणी** एवं 'प्रभावकचरित' के लेखक **प्रभाचन्द्रसूरि** ने भी 'तरंगवइ' की प्रशंसा में अपनी विशेषणमुखरता का प्रदर्शन किया है। इस कथाकृति को एक धार्मिक उपन्यास की श्रेणी प्राप्त थी। **वीरभद्र आचार्य** के शिष्य **नेमिचन्द्रगणी** ने 'तरंगलोला' नाम से इस कृति का संक्षिप्त रूपान्तर प्रस्तुत किया और सम्प्रति, यही रूप प्राप्त है। इसमें १६४२ गाथाएँ हैं। चार भागों में विभक्त इसकी मूलकथा है: तरंगवती आर्यिका के रूप में राजगृह आती है और आत्मकथा कहना आरम्भ करती है। इसी क्रम में पूर्वभव का स्मरण आते ही वह प्रेमोद्दीप्त हो उठती है और अपने प्रेमी की खोज में लग जाती है। अभीष्ट की प्राप्ति होने पर वह विवाह-बन्धन में आबद्ध होती है। अन्त में, सांसारिकता से विरक्त होकर श्रमण-दीक्षा स्वीकार करती है। उक्त कथा-प्रसंग के आधार पर इसे हम कायामुक्तिमूलक प्रेमाख्यान कह सकते हैं।

रचनाकार : 'तरंगवइ' की पूरी कथा को उत्तमपुरुष में प्रस्तुत करनेवाले इसके रचयिता को **नगेन्द्र** नाम से भी जाना जाता है। कहते हैं, **नगेन्द्र** इसका जन्मनाम था, किन्तु दीक्षा एवं उपरति के बाद **पादलिप्तसूरि** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह **मथुरानिवासी** था। इसका स्थितिकाल विक्रमाब्द **१५१** से २१६ के मध्य निर्धारित किया जाता है। यह कथाकार 'गाथासप्तशती' के आकलनकर्त्ता राजा **हाल** का दरबारी कवि था। 'बृहत्कथा' का रचयिता **गुणाढ्य** भी इसका समकालीन रहा होगा, ऐसा अनुमान है। ऐतिहासिकों से ऐसी सूचना मिलती है कि राजा **कनिष्क** के सूबेदार **मुरुण्ड** के स्नेहपात्रों में **पादलिप्तसूरि** अन्यतम था। इसी आधार पर इसे सन् ७८ से १६२ ई० के मध्य में अवस्थित माना जाता है और 'तरंगवती' का रचनासमय विक्रमाब्द की दूसरी शती के पूर्व स्थिर होता है।

रचना-वैशिष्ट्य : आत्मकथा की अश्रुस्नात शैली में निबद्ध 'तरंगवती' रसात्मक परिवेश में प्रेम और करुणा की तीव्रता का सटीक वर्णन करनेवाली एक सफल औपन्यासिक कृति है। इसकी कथा में इतिहासांकन एवं परिकल्पन का मिश्रित विनियोग है। प्रतिभाविदग्ध कथाकार ने कल्पना और यथार्थ, तथ्य और सत्य के संयोजन की बड़ी कमनीय कथारूढि उपन्यस्त की है जिसमें इसके संरचनात्मक सामर्थ्य की सप्राणता का प्रमाण प्रतिष्ठित है। जीवित और स्फूर्त्तिमती भाषा में सुष्ठु, साधु एवं काव्यात्मक संयोजन मनोरम बिम्बविधान करने की क्षमता से सम्पन्न है। इसकी सुश्लिष्ट कथावस्तु में धार्मिक धरातल पर वैराग्य के भव्य संयोजन, वेदना की उदग्रता एवं अनुभूति की तीव्रता का विलक्षण कलायोग घटित हुआ है। इस कृति में रोमान्तिक चेतना के उत्तरोत्तर विकास की कलात्मकता तरल भी है, मार्मिक भी। कथाकार ने भाग्यवाद के विकास को मानवतावाद में परिणत कर दिया है। कथाकार **पादलिप्त** की अन्तर्दृष्टि संरचनात्मक कल्पना और बिम्ब-विधायिनी प्रतिभा से अतिशय ललित बन गई है। इसकी कथायोजना में एक अपूर्व दिव्यता अनुस्यूत हो गई है और आध्यात्मिकता पूरे कथानक में अन्तर्भुक्त रही है। चोरों द्वारा नायक पद्मदेव के पकड़े जाने पर नायिका तरंगवती का करुण-कोमल हृदयद्रावक क्रन्दन वज्रहृदय को भी दलित करने की शक्ति से स्फूर्त्त है।

वसुदेवहिण्डी :

भारतीय कथा-साहित्य में ही नहीं, अपितु समस्त विश्वकथा-साहित्य में 'वसुदेवहिण्डी' का आदरणीय स्थान है। **गुणाढ्य** ने जिस प्रकार पैशाची में नरवाहनदत्त की कथा ('बृहत्कथा') लिखी है, उसी प्रकार **आचार्य संघदासगणी** ने प्राकृत में वसुदेव के भ्रमण-वृत्तान्त को कथा में निबद्ध कर 'वसुदेवहिण्डी' का प्रणयन किया। इधर-उधर घूमने-फिरने (=हींड़ने : लोक-प्रयोग) को 'हिण्ड' या 'हिण्डन'

कहते हैं, इसलिए वसुदेव के भ्रमण-वृत्तान्त का कथा-संकलन होने के कारण 'वसुदेव-हिण्डी' नामकरण का औचित्य स्वतःसिद्ध है। इसमें श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव का चरित चित्रित है, अतएव इसका अपर पर्याय 'वसुदेवचरित' भी है। इस कथा-कृति की भी प्राचीनता प्रत्यक्ष है। क्योंकि, 'आवश्यकचूर्णि' के कर्त्ता **जिनदासगणी** ने इसका उपयोग किया है। साथ ही, इसमें हरिवंश की महत्ता एवं कौरव-पाण्डवों के कथानक का गौणतः गुम्फन भी किया गया है। 'निशीथचूर्णि' में सेतु और चेटक की कथा के सन्दर्भ में इस कथाग्रन्थ का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

गद्यनिबद्ध 'वसुदेवहिण्डी' के दो खण्ड हैं। कहा जाता है कि प्रथम में, ग्यारह हजार श्लोकों को २६ लम्भों में तथा द्वितीय में, सत्रह हजार श्लोकों को ७१ लम्भों में विस्तार दिया गया है, बीच-बीच में पद्य का भी प्रयोग किया गया है। कुल सौ लम्बकों में समाप्त इस महान् कथाग्रन्थ का सम्प्रति प्रथम खण्ड ही प्राप्य है, वह भी अपूर्ण रूप में। इस कथा-ग्रन्थ का लम्बकों एवं तरंगों में आबद्ध संस्कृत-कथाग्रन्थ 'कथा-सरित्सागर' (सोमदेव) के साथ ही 'बृहत्कथामंजरी' (क्षेमेन्द्र) तथा 'बृहत्कथाश्लोक संग्रह' (बुधस्वामी) के भी समानान्तर अध्ययन किया जा सकता है। क्योंकि, इन कथाग्रन्थों की तरह ही 'वसुदेवहिण्डी' में अनेक आख्यानों, कथानकों, चरितों एवं अर्द्ध-ऐतिहासिक वृत्तों का सुव्यवस्थित लम्भबद्ध संकलन है।[१]

रचनाकार : 'वसुदेवहिण्डी' की रचना संयुक्त रूप में हुई है। प्रथम खण्ड के रचयिता श्वेताम्बर आचार्य **संघदासगणी** और द्वितीय खण्ड के **धर्मदासगणी** माने गये हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल तीसरी-चौथी शती अनुमित है, इसलिए रचनाकार भी उसी समय के आसपास अवस्थित होंगे। सूचना है कि 'वसुदेवहिण्डी' के दूसरे खण्ड की पाण्डुलिपि 'मज्झिमखण्ड' नाम से अहमदाबाद के 'लालभाई दलपतभाई प्राच्याविद्या-शोध, संस्थान, में सुरक्षित है और उसपर शोधकार्य हो रहा है।

रचना-वैशिष्ट्य : इस कथाकृति में पंचतन्त्र के समान ही वायस, शाकटिक आदि के लौकिक आख्यान आये हैं। ज्ञात होता है, यह ग्रन्थ 'पंचतन्त्र' का उपजीव्य रहा होगा। केवल 'पंचतन्त्र' का ही नहीं, अपितु यह अनेक प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश-काव्यों का उपजीव्य है। डॉ० **जगदीशचन्द्र जैन** के 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास' (पृ० ३८३) के अनुसार, जर्मन-विद्वान् डॉ० **ऑल्सडोर्फ** ने 'वसुदेवहिण्डी' की तुलना गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से की है। वे इस कृति को 'बृहत्कथा' का प्राकृत-रूपान्तर मानने के पक्ष में है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री[2] के अनुसार, अगडदत्त के

---

१. विशेष अध्ययन के लिए लेखक का 'वसुदेवहिण्डी' पर स्वतन्त्र शोध-ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

२. प्रा० भा० सा० आ० इतिहास (तथैव), पृ० ४६१।

चरित का विकास इसी कथाग्रन्थ से आरम्भ होता है। जम्बुचरितों का मूलस्रोत भी यही है। इसे प्रसिद्ध प्राकृतकथा-लेखक आचार्य हरिभद्रसूरि की प्रख्यात कथा-कृति 'समराइच्चकहा' का आदिस्रोत होने का गौरव प्राप्त है।

'वसुदेवहिण्डी' समास-शैली में लिखी गई प्राचीन महाराष्ट्री भाषा की एक विशिष्ट रचना है। प्रसादगुणयुक्त वैदर्भी-शैली में विन्यस्त संवाद में सुश्लिष्टता है। कथा की मार्मिकता एवं रस-प्रवाह के बावजूद इसमें जैनधर्म के तत्त्वों के विवेचन का मूल आग्रह प्रत्यक्ष है। लोककथा के तत्त्व, साहस, षड्यन्त्र, युद्ध, रहस्य आदि के वर्णन के साथ ही यौनोष्मा, पावन प्रेम की उदात्तता, कथानक-रूढि आदि की भावोन्मेषक अवतारणा की गई है। इस रससिद्ध कथाकृति के वर्णनात्मक कल्प में मनोरम विलक्षणता है; अत्युक्तियाँ भी सहज और स्वाभाविक जान पड़ती हैं। कथा में प्रतिपल नवीनता और अन्तरंग स्फूर्त्ति की अप्रतिम सद्यस्कता अन्तर्निहित है। कुल मिलाकर, यह भारतीय संस्कृति का महार्णव है, जिसमें कामकथा के माध्यम से धर्मकथा का विनिवेश हुआ है।

समराइच्चकहा :

'वसुदेवहिण्डी' के प्रभावस्पर्श से संवलित इस कृति की गणना प्राकृत की सर्वाधिक चर्चित कथा-कृतियों में होती है। शिल्प की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य में **बाणभट्ट** की **'कादम्बरी'** का जो स्थान है, प्राकृत में इस कृति का वही स्थान है। अन्तर इतना ही है कि 'कादम्बरी' यदि विशुद्ध प्रेमकथा है, तो 'समराइच्चकहा' प्रेममूला धर्म-कथा। 'समराइच्चकहा' ('समरादित्यकथा') नौ भवों (परिच्छेदों) में विभक्त है। इस कथा-ग्रन्थ की मूल कथावस्तु प्रतिशोध-भावना से आवेष्टित विषय-प्रवाह पर आधृत है। उज्जैन के राजकुमार समरादित्य (पूर्वभव-नाम गुणसेन) और उसके प्रतिद्वन्द्वी अग्निशर्मा के पारस्परिक प्रतिशोध लेने की प्रवृत्ति का चित्रण इसलिए अधिकाधिक मार्मिक बन पड़ा है कि राजकुमार प्रतिशोध लेने की भावना नहीं रखता है, फिर भी संयोगवश वह अग्निशर्मा द्वारा प्रतिशोध की भावना रखनेवाला समझ लिया जाता है। नायक और प्रतिनायक के बीच की जो यह भ्रान्ति है, वही कथानक को मनोवैज्ञानिक तीव्रता और मनःप्रसादक प्रभविष्णुता प्रदान करती है।

रचनाकार : रचनाकाल : इस कृति के रचयिता हरिभद्रसूरि-श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्याधरगच्छीय शिष्य थे। इनके गच्छपति आचार्य का नाम **जिनभट्ट**, दीक्षागुरु का नाम जिनदत्त और धर्ममाता साध्वी का नाम याकिनीमहत्तरा था—इनका जन्म राजस्थान के चित्रकूट-चित्तौड़नगर में हुआ था। ये जन्मना ब्राह्मण थे और अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के कारण राजा जितारि के राजपुरोहित-पद पर

प्रतिष्ठित थे। दीक्षा-धारण के बाद जैनसाधु के रूप में इनका जीवन विशेषतया राजपूताना और गुजरात में व्यतीत हुआ। 'प्रभावकचरित' इंगित करता है कि इन्होंने पोरवाल-वंश को सुव्यवस्थित किया था।

हरिभद्रसूरि का स्थितिकाल आठवें शतक का उत्तरार्द्ध और नवें शतक का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया गया है। 'उपमितिभवप्रपंचकथा' के रचयिता सिद्धर्षि और 'कुवलयमाला' के कवि उद्योतनसूरि ने हरिभद्र के प्रभाव के प्रति आभार व्यक्त किया है। 'कुवलयमाला' का रचनाकाल आठवीं शती का उत्तरार्द्ध है। इससे यह अनुमान है कि हरिभद्रसूरि उसी आसपास में अवस्थित थे। मुनि जिनविजयजी ने हरिभद्र का समय सन् ७००–७७० ई० निश्चित किया है, किन्तु डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री हरिभद्र का स्थितिकाल सन् ८००–८३० ई० मानने के पक्ष में हैं। आचार्य हरिभद्र को १४४४ प्रकरणों का प्रणेता माना जाता है। राजशेखरसूरि ने अपने 'प्रबन्धकोश' में इन्हें १४४० प्रकरणों का लेखक कहा है। इनका नाम पादलिप्त तथा बप्पभट्ट आचार्यों के साथ आदरपूर्वक लिया जाता है। इनके द्वारा प्रणीत उपलभ्य बीस कृतियों में दो प्रसिद्ध कथाग्रन्थ 'समराइच्चकहा' एवं 'धूर्त्ताख्यान' बहुविदित हैं। 'समराइच्चकहा' तो आठवीं-नवीं शती के प्राकृत-कथाग्रन्थों में पोतध्वज की तरह उद्ग्रीवता के साथ प्रतिष्ठित है।

रचना-वैशिष्ट्य : हरिभद्रसूरि ने अपनी 'समराइच्चकहा' को 'धर्मकथा' की संज्ञा दी है।। 'उत्कलिकाप्राय' गद्य के साथ ही गद्यगन्धि पद्य (आचार्य विश्वनाथ के अनुसार 'वृत्तगन्धि मुक्तक') के प्रयोग के कारण इस कथा-काव्य में अपूर्व चमत्कार का समावेश हो गया है। यही कथा-काव्य हरिभद्रसूरि के कविरूप में प्रसिद्ध होने का कारण बना। इसमें, प्रेममूला धर्मकथा होने के कारण, नायक-नायिकाओं की प्रेमकथाओं और उनके चरित्रों का वर्णन है, जो अन्ततोगत्वा भवविराग के कारण श्रमण-दीक्षा ग्रहण करते हैं। यह कथा-काव्य महाराष्ट्री-प्राकृत में निबद्ध है। इसका पद्यभाग आर्याछन्द में है, किन्तु द्विपदी, विपुला आदि छन्दों के भी प्रयोग मिलते हैं। बिम्बविधायिनी भाषा के प्रयोक्ता हरिभद्रसूरि समासबहुला गौडी शैली के सशक्त कवि हैं और इनकी अभिव्यंजना में प्रांजलता है, प्रौढता भी। इस कथा-काव्य में प्रणयोन्माद की मोहकता के साथ ही प्रकृति के सुरम्य चित्र उकेरे गये हैं। इसके अतिरिक्त, तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाज के साथ ही विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदायों की चर्चा एवं तप के संयमोज्ज्वल रूप का प्रतिफलन अपनी विशिष्ट गरिमा रखता है। साहित्यिक उत्कर्ष के खयाल से इस कथा-काव्य का जितना महत्त्व है, सांस्कृतिक चेतना की दृष्टि से इसका ततोऽधिक वैशिष्ट्य है। इस कमनीय कथाकृति का 'कादम्बरी' के समानान्तर अध्ययन होना चाहिए। संस्कृत-गद्यकाव्य का अध्ययन तभी पूर्ण माना जायगा, जब प्राकृत-गद्यकाव्य का पुंखानुपुंख अध्ययन होगा।

धुत्तक्खाण (धूर्त्ताख्यान) :

महाराष्ट्री-प्राकृत में निबद्ध यह **आचार्य हरिभद्र** की दूसरी कथाकृति है। इसमें व्यंग्यप्रधान कथाओं का भाण्डार भरा है। लेखक 'समराइच्चकहा' में जितना गम्भीरव्यक्तित्व प्रतीत होता है, 'धूर्त्ताख्यान' में उतना ही चुटकियाँ-चिकोटियाँ चलाने में माहिर। कथालेखक ने बड़े ही विनोदात्मक ढंग से रामायण, महाभारत और पुराणों की अतिरंजित कथाओं पर व्यंग्य करते हुए उनकी असार्थकता सिद्ध करने की कला में कमाल हासिल किया है। फिर भी अन्यापदेशिक शैली आक्रमणात्मक या ध्वंसात्मक न होकर परामर्शात्मक एवं रचनात्मक है। आकर्षक-आवर्जक रीति से अतिशयोक्ति और कुतूहल के तत्त्वों को नियोजित करने के कारण मनोरंजन की मात्रा में आधिक्य ही नहीं, माधुर्य भी आ गया है। 'धूर्त्ताख्यान' के आख्यानों का सही-सही मजा उसे ही आ सकेगा, जिसे संस्कृत की पौराणिक गाथाओं का ज्ञान होगा। यों, एकांगी अध्ययन से कवि के कथ्य की मार्मिकता या उद्देश्य की गम्भीरता का पता नहीं चलेगा और पाठकों में ऐकान्तिक धारणा बनने का खतरा भी उपस्थित हो जायगा। पाँच आख्यानों में आबद्ध यह व्यंग्य-कथाकृति मध्यकालीन समाज के अधःपतन की उद्धार-कथा प्रस्तुत करती है।

कुमारवालवडिबोह (कुमारपालप्रतिबोध) :

चारित्रिक निष्ठा को प्रतिबुद्ध करने के उद्देश्य से **सोमप्रभसूरि** ने इस कथाग्रन्थ का प्रणयन किया। इस कृति का अपर नाम 'जिनधर्मप्रतिबोध' भी है। **आचार्य हेमचन्द्र** के उपदेशों से प्रभावित होकर गुजरात के चालुक्यराजा **कुमारपाल** ने जैनधर्म स्वीकार किया था, यही इस कृति का प्रतिपाद्य है। **सोमप्रभ** ने उक्त प्रतिपाद्य का ग्रन्थीकरण राजा **कुमारपाल** की मृत्यु के ग्यारह वर्ष पश्चात् महाराष्ट्री-प्राकृत में किया। हालाँकि, बीच-बीच में अपभ्रंश और संस्कृत के प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। यह ग्रन्थ पाँच प्रस्तावों में विभक्त है। पाँचवाँ प्रस्ताव पूरा-का-पूरा अपभ्रंश में है। इसमें कुल ५४ धर्मकथाएँ गुम्फित हैं। इसका रचनाकाल विक्रमाब्द १२४१ (सन् ११८४ ई०) निश्चित किया गया है।

रचनाकार : **सोमप्रभ** प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश का प्रकाण्ड पण्डित था। इस कवि ने प्राग्वाट-कुल के वैश्य-परिवार को अपने जन्म से अलंकृत किया था। इस कवि का स्थितिकाल ईसा की १२वीं शती अनुमित है।

रचना-वैशिष्ट्य : 'कुमारपालप्रतिबोध' के कथातत्त्व में जिज्ञासा और कौतूहल-निर्वाह के साथ ही सरस-मधुर संवादों की सुश्लिष्ट योजना भी है। आदर्श चरितों की स्थापना के क्रम में उपदेशों की भूयिष्ठता के कारण रसपक्ष बाधित होता है, किन्तु सांस्कृतिक सन्दर्भों की स्फूर्त्ति से विषय-प्रतिपादन में पर्याप्त तुष्टिकरता आ गई है। संस्कृत में अतिशय प्रसिद्ध नल-दमयन्ती जैसे कथा-सन्दर्भ भी इसमें हैं।

अन्य प्राकृत-कथाएँ :

इस प्रकार, प्राकृत के कथाक्षेत्र में 'कथारस'-प्रधान कृतियों की बहुसंख्यता है और वे कथाएँ भी ऐसी कि जो शय्या पर स्वयं उपस्थित रसमयी नई वधू की तरह जन-जन के चित्त को रमा-रिझा जानेवाली हैं। कथा-प्रयुक्त प्राकृत की प्रत्येक शब्दावली क्षण-क्षण नवीनता प्राप्त करनेवाली रमणीययौवना की भाँति अपने पाठकों के समक्ष आती है और फिर जिसे इसका आस्वाद ज्ञात हो जाता है, वह सदा के लिए 'कथाकोविद' हो जाता है। कथा की उक्त विशिष्टता के सन्दर्भ में पूर्वविवेचित कथा-काव्यों के अतिरिक्त इतः संकेतित कथाकृतियाँ भी अपनी आवर्जकता से अवश्यम्पठनीय हैं। 'निर्वाणलीलावतीकथा' (जिनेश्वरसूरि : विक्रम की ११वीं शती) में यदि कथाजाल का कौतूहल है, तो 'कथाकोषप्रकरण' (जिनेश्वर-सूरि) मानवीय भावों की आकुल तरंगमयता के लिए प्रसिद्ध है। 'संवेगरंगशाला' (जिनचन्द्र : १२वीं शती) की कथाएँ जहाँ भावतारल्य से आपूर्ण हैं, वहाँ 'णाण-पंचमीकहा' (महेश्वरसूरि : १२वीं शती) की कथाएँ अपनी कल्पना-माधुरी और काव्य-सौष्ठव से सम्पन्न हैं। 'कहारयणकोष' (देवभद्रसूरि-गुणचन्द्र : १२वीं शती) की कथाएँ जहाँ एक ओर इश्कमजाजी की पृष्ठभूमि को पार कर इश्कहकीकी की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती हैं, वहीं दूसरी ओर 'नम्मयासुंदरीकहा' (महेन्द्रसूरि : रचनाकाल ११८७ विक्रमाब्द) की रससिक्त कथाएँ भावबोध की तल्लीनता उपस्थित करती हैं। काव्यकला की कमनीयता की दृष्टि से 'आख्यानमणिकोश' (नेमिचन्द्रसूरि) कथाओं का मेरुशिखर है, तो मर्मस्पर्शिता और भावोत्पादकता के विचार से 'जिन-दत्ताख्यान (आचार्य सुमतिसूरि :१३वीं शती) अपने आख्यानों की भावोत्तुंगता से तरंगित है। 'सिरिसिरिवालकहा' (रत्नशेखर सूरि द्वारा विक्रम की १५वीं शती में संकलित) में अन्तरंग मधुरिमा एवं भावुकता उभरी है, तो 'रयणसेहरनिवकहा' (जिनहर्ष-सूरि : १५वीं शती) में प्रेम की रसपेशलता निखरी है। 'महिवालकहा' (वीरदेव-गणि : १५वीं शती) लोकोक्तियों के लालित्य और लावण्य का टकसाली भाषाकोष है, तो 'पाइअकहासंगहो' उल्लासमयी सांगीतिकता से ओतप्रोत कथाओं की महा-निधि है। प्रसिद्ध चम्पूकाव्य 'कुवलयमाला' तो प्राकृत-कथासाहित्य का काव्य-गन्धि कीर्त्तिगान ही है।

निष्कर्ष :

इदमित्थम्, प्राकृत-कथासाहित्य के विकास की सुदीर्घ परम्परा प्रायः दो हजार वर्षों से मिलती है। प्राकृत के प्रेमाख्यान की परम्परा का प्रकृष्ट प्रभाव संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी की प्रेमकथाओं पर प्रचुरता से पड़ा है। विशेषतः, संस्कृत की चम्पूविधा का विकास गद्य-पद्य-मिश्रित प्राकृत-कथाओं से ही माना जाता है। कथात्मक रूढि की दृष्टि से संस्कृत-कथाओं के अबतक का अध्ययन अधूरा है। इस

दिशा में प्राकृत के कथा-साहित्य से संस्कृत के कथा-साहित्य को पर्याप्त आलोक मिल सकता है। पशु-पक्षी की कथाओं के विकास का मूलस्रोत भी प्राकृत-कथाएँ ही हैं; क्योंकि संस्कृत में गुप्त-साम्राज्य के पुनर्जागरण के पश्चात् नीति या उपदेश देने के लिए पशु-पक्षी की कथाएँ गढ़ी गई हैं, ऐसा साहित्येतिहासविदों का मत है। परन्तु, एतत्पूर्ववर्त्ती आगम-ग्रन्थ 'णायाधम्मकहाओ' में कतिपय पशुओं (मेढक, कछुए आदि) की कथाएँ अंकित हो चुकी थीं। और, ये कथाएँ स्वयं भगवान् महावीर ने कही हैं। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत की ईसवी छठी शती की पशु-कथाएँ निश्चय ही ईसा-पूर्व छठी शती की प्राकृत की पशु-कथाओं से प्रेरित-प्रभावित हुई हैं। इसलिए, इस दृष्टि से भी प्राकृत की कथाओं के समानान्तर संस्कृत की कथाओं का अध्ययन अपेक्षित है।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने संस्कृत के 'पंचतन्त्र' की तथा अन्य पशु-पक्षियों की कथाओं को प्राकृत की ही देन के रूप में स्वीकार किया है।[1] कहना न होगा कि प्राकृत-कथासाहित्य में विशदता, विविधता एवं बहुलता से चित्रित धार्मिक-सामाजिक निबन्धन, अर्थनीति-राजनीति के निदर्शन, राजतन्त्र, वाणिज्य-व्यवसाय एवं निम्नमध्यवर्गीय जन-जीवन के विवेचन, व्यक्तित्व-निर्माण एवं चरित्रोत्कर्ष आदि की दृष्टि से भी प्राकृत और संस्कृत-कथासाहित्य की तात्त्विकता का समानान्तर अध्ययन अपने-आप में बड़े ही रोचक महत्त्व का विषय सिद्ध होगा।

---

१. 'हरिभद्र के प्राकृत-कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन', प्र० प्राकृत-जैन-शास्त्र और अहिंसा-शोध-संस्थान, वैशाली, मुजफ्फरपुर, सन् १९६५ ई०, पृ० १०३।

अध्ययन ५

प्राकृत के दर्शन, व्याकरण, छन्द, कोश एवं अलंकार-ग्रन्थों में संस्कृत के समानान्तर अध्ययन के तत्त्व

(क) दर्शन :

प्रत्येक भाषा के दो पक्ष होते हैं : १. विचारात्मक और २. आचारात्मक। विचारात्मक पक्ष में ही दर्शन का विनियोग होता है। मनुष्य की प्रमुखतः दो प्रवृत्तियाँ हैं : अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। वह, आचारात्मक, यानी व्यावहारिक भाषा के माध्यम द्वारा, दैनिक जीवन की साधारण आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए, अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को कार्यशील रखता है, तो विचारात्मक भाषा के आधार पर उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ उस समय गतिशील रहती हैं, जिस समय जीवन में कठिनतम परिस्थितियाँ आकर उसके मन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर देती हैं और तब वह आपाततः द्वन्द्विल प्रतीयमान जगत् के स्वरूप से सन्तुष्ट नहीं हो पाता, फलतः, जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझने तथा द्वन्द्विलतापूर्ण समस्याओं को सुलझाने के लिए उद्यत होता है। सच पूछिए, तो दार्शनिक या तात्त्विक दृष्टि का सूत्रपात वहीं होता है।

दार्शनिक दृष्टि का उदय सांस्कृतिक विकास की विशेष अवस्था में होता है। चूंकि, भारतीय संस्कृति बहुत प्राचीन है, इसलिए इसकी दार्शनिक दृष्टि-परम्परा भी अतिशय पुरातन है। वस्तुतः, भारतीय दार्शनिक परम्परा का काल या सीमा-निर्धारण असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य ही है।

वेदों का, विशेषतः 'ऋग्वेद' का काल, निस्सन्देह, अति प्राचीन है। ब्रह्म-सूत्र के शांकरभाष्य में कपिल के सांख्य-दर्शन को श्रुतिविरोधी, यानी अवैदिक कहा गया है।[१] डॉ० सम्पूर्णानन्द ने भाष्योल्लिखित 'श्रुतिविरुद्ध' शब्द का अर्थ 'प्राग्वैदिक' या 'वैदिकेतर' किया है।[2] तात्पर्य यह कि कपिल के सांख्यदर्शन की परम्परा प्राग्वैदिक या वैदिकेतर है और इससे सहज अनुमेय है कि भारत में एक ऐसी भी दार्शनिक विचारधारा प्रवाहित थी, जिसका आदिस्रोत वैदिक धारा से पृथक् या उससे पहले का ही रहा।

---

१. 'न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्।'—ब्र० सू०, शांकर-भाष्य, २।१।१।

२. द्र० : प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य-कृत 'जैनदर्शन', प्राक्कथन, पृ० १०।

जैनदर्शन : स्वतन्त्र दर्शन :

जैनदर्शन की सम्पूर्ण तात्त्विक दृष्टि वैदिक दृष्टि से स्वतन्त्र तो है ही, भिन्न भी है। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने कापिलीय सांख्य की दार्शनिक धारा के जिस प्राग्वैदिक परम्परा से जुड़ने की ओर संकेत किया है, वह मूलतः निरीश्वरवादी दार्शनिक परम्परा ही सम्भव है, जिसके स्वतन्त्र विकास की एक शाखा जैनदर्शन है।

जैनदर्शन का वैशिष्ट्य :

जैनदर्शन की विशिष्टता न केवल उसकी प्राचीनतम परम्परा के कारण है, अपितु इसके अन्य आधार भी हैं। दार्शनिक विचार की महत्ता इस बात में है कि वह प्रकृत वास्तविक समस्याओं पर, समस्याओं की दृष्टि से ही, किसी प्रकार के पूर्वाग्रह-दुराग्रह के विना विवेचन-विश्लेषण करे। जैनेतर दर्शन शब्दप्रमाण के आधार पर विचारधारा की एक स्थूल रूपरेखा खड़ी कर देते हैं और फिर वे उसमें अपने-अपने अनुकूल रंग भरते हैं। इसके विपरीत, जैनदर्शन साफ स्वतन्त्र फलक पर अपना दर्शन-तत्त्व रूपायित करता है। दार्शनिक दृष्टि की विशुद्धता और उसके विकास के निमित्त यह परम आवश्यक है कि दर्शनकार अपने विचारों को स्वतन्त्र विचार-धारा की भित्ति पर प्रतिष्ठित करे और पारम्परिक पूर्वाग्रहों से अपने को बचाये। जैनदर्शन की विशिष्टता इसी मानी में है कि वह शब्दप्रमाण को दार्शनिक दृष्टि का अनुगामी बनाता है, जबकि जैनेतर दर्शनों की दृष्टि शब्दप्रमाण की अनुगामिनी बनी रहती है।

जैनदर्शन की मौलिक देन :

जैनदर्शन का मूल विचारबिन्दु है : किसी तत्त्व के विषय में किसी भी तात्त्विक दृष्टि का ऐकान्तिक होना सम्भव नहीं। प्रत्येक तत्त्व में स्वभावतः अनेक-रूपता सम्भाव्य है। और, कोई भी दृष्टि किसी तत्त्व में निहित अनेक रूपों का एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन करने में सर्वथा असमर्थ है। वैचारिकता के इसी सिद्धान्त को जैनदर्शन की परिभाषा में 'अनेकान्त-दर्शन' कहा गया है और यही जैनदर्शन का मूलाधार है।

वैचारिक क्षेत्र का 'अनेकान्त' ही वाचिक या व्यावहारिक क्षेत्र का 'स्याद्वाद' है। अनेकान्त यदि मनुष्य की नैतिकता को उदात्त बनाता है, तो 'स्याद्वाद' उसके लौकिक व्यवहार में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन लाता है। इसीलिए, अन्य दर्शनों में जहाँ परमत-खण्डन पर अधिक बल दिया गया है, वहीं जैनदर्शन ने अनेकान्त-सिद्धान्त के आधार पर वस्तुस्थितिमूलक विभिन्न मतों का समन्वय ही अपना मूल लक्ष्य बनाया है। जैनदर्शन के इस व्यापक अहिंसामूलक सिद्धान्त की ततोऽधिक मौलिकता है और महत्त्वपूर्ण देन भी। कहना न होगा कि भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद या

परमत-सहिष्णुता या समन्वय-भावना के सन्दर्भ में जैन विचारधारा या जैनदार्शनिक दृष्टि की जो महार्घ देन है, उसको हृदयंगम किये विना भारतीय संस्कृति को समझना कदापि सम्भव नहीं है।

जैनदर्शन और प्राकृत के दार्शनिक शास्त्रीय ग्रन्थ :

प्राकृतशास्त्रों में जैनदर्शन के तत्त्व आगम-साहित्य के समय (ई० पू० ५वीं शती से ई०५वीं शती) से ही प्राप्त होते हैं। वर्त्तमान समय में जो श्रुत उपलब्ध होता है, वह भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट है। उन्होंने अपनी अमृतध्वनि के माध्यम से जो कुछ कहा, उसे ही उनके गणधरों ने सुव्यवस्थित रूप से द्वादश अंगों में ग्रथित किया। ज्ञातव्य है कि अर्थागम तीर्थंकरों के श्रीमुख से हुआ है और उसके शब्दशरीर की रचना गणधरों के द्वारा की गई है। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह—इन्हीं चार स्तम्भों पर जैनधर्म की भव्य अट्टालिका प्रतिष्ठापित है। कहते हैं कि इसी अट्टालिका का जीर्णोद्धार करने और इसे युगानुरूपता प्रदान करके समीचीन रूप में स्थिर करने का प्रयास तीर्थंकरों का रहा है।

द्वादशांग : श्वेताम्बर-दृष्टि :

बारह अंगों में विभक्त प्राकृत-भाषा-निबद्ध श्रुत क्रमशः इस प्रकार हैं : १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृधर्मकथा, ७. उपासकदशांग, ८. अन्तःकृद्दशांग, ९. अनुत्तरौपपातिकदशांग, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकसूत्र, और १२. दृष्टिवाद। 'आचारांगचूर्णि' में इसे 'वेद' की संज्ञा दी गई है।[१] इसका दूसरा नाम 'गणिपिटक' भी है। इस द्वादशांग का समानान्तर अध्ययन संस्कृत के प्राचीनतम शास्त्र 'वेद' और बौद्धों के प्राचीन-शास्त्र 'त्रिपिटक' के परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है! उक्त द्वादशांग महावीर के प्रमुख गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा संकलित हैं। बारहवें अंग दृष्टिवाद में चौदह पूर्वों का समावेश है, किन्तु सम्प्रति यह लुप्त हो गया है।

द्वादश उपांग : अन्य आगम :

संस्कृत-निबद्ध वैदिक ग्रन्थों में भी उपांगों की रचना हुई है। चार वेदों के छह अंग हैं : शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष; एवं उपांग चार हैं : पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। इसी प्रकार, प्राकृत के बारह अंगों के उपांग भी बारह हैं। यथा : १. औपपातिक, २. राजप्रश्नीय, ३. जीवा-जीवाभिगम, ४. प्रज्ञापना, ५. सूर्यप्रज्ञप्ति, ६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ७. चन्द्रप्रज्ञप्ति,

---

१. 'दुवालसंगं वा प्रवचनं वेदो।'—आचारांगचूर्णि, ५।१८५।

८. निरयावलिया, ९. कल्पावतंसिका, १०. पुष्पिका, ११. पुष्पचूला और १२. वृष्णि-दशा। इन बारह उपांगों के अतिरिक्त दस प्रकीर्णक, 'छेदसूत्र', 'मूलसूत्र', 'नन्दी' और 'अनुयोगद्वार'-संज्ञक आगमों की भी रचना हुई है। श्रमण मुनियों ने तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके धर्मदेशना के लिए प्रकीर्णकों की रचना की है। 'छेदसूत्र' में निर्ग्रन्थ साधुओं और साध्वियों के लिए प्रायश्चित्त-विधि का विधान किया गया है। 'मूलसूत्रों' में साधु-जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश है। इनमें उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' आदि की परिगणना प्रमुखता से होती है। 'नन्दीसूत्र' में महावीर, संघ और श्रमणों की स्तुति के साथ ही, ज्ञान के भेद-प्रभेदों का विस्तार से कथन है और 'अनुयोगद्वारसूत्र' में विभिन्न विषयों के साथ ही प्रमाण के चार भेदों-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम की विवेचना की गई है।

व्याख्या-साहित्य :

कहना न होगा कि आगम-साहित्य में दार्शनिक तत्त्वों का सूत्र-संकेत ही प्राप्त होता है। किन्तु, इसी सूत्र-संकेत का आश्रय ग्रहण कर आगमों की व्याख्या हुई है। आगमों का व्याख्याकाल ईसवी की दूसरी शती से १६वीं शती तक है। प्राकृत के दर्शनेतिहास के अध्ययन की दृष्टि से आगमों के व्याख्या-साहित्य का महान् महत्त्व है। इस व्याख्या-साहित्य को चार वर्गों में विभक्त किया गया है : निर्युक्ति साहित्य, भाष्य-साहित्य, चूर्णि-साहित्य एवं टीका-साहित्य। व्याख्या-साहित्य में आगम के सिद्धान्तों का विश्लेषण-विवेचन है, साथ ही सांस्कृतिक तत्त्वों की भी विविधता से व्याख्या हुई है। किन्तु दार्शनिक तत्त्वों की प्रत्यक्ष चर्चा नहीं की गई है। लगभग इसी अवधि में दिगम्बर-सम्प्रदाय[१] के मूर्द्धन्य मनीषियों द्वारा रचित प्राकृत के प्रचुर दार्शनिक ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें दर्शन के अनेक पक्षों का पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन किया गया है।

आगम : दिगम्बर-दृष्टि :

दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार आगम दो हैं : अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य के चौदह भेद हैं और अंगप्रविष्ट के बारह। दिगम्बरों के मत से द्वादशांग आगमों का उच्छेद हो गया है, केवल दृष्टिवाद के कुछ अंश शेष हैं, जो 'षट्खण्डागम' के रूप में उपलभ्य हैं। दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार, प्रकारान्तर से जैन आगम के चार भाग हैं : प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग।

---

१. पूर्वकाल में श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में आगमिक भिन्नता के अतिरिक्त और किसी प्रकार का मतभेद या साम्प्रदायिक द्वेषभाव नहीं था। दोनों ही ज्ञातृपुत्र श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट निर्गन्थ-प्रवचन के एकनिष्ठ अनुयायी थे।—ले०

षट्खण्डागम :

'षट्खण्डागम' के, जैसा नाम से स्पष्ट है, छह खण्ड हैं। इनमें जैनदर्शन के अनेक तत्त्व, जैसे प्रकृति, कर्मबन्ध, जीव, वेदना, महाबन्ध आदि की शास्त्रीय विवेचना गुम्फित हुई है। इन्हीं छह खण्डों पर आचार्य वीरसेन ने धवलाटीका (श्लोकबद्ध) की रचना की। आगे चलकर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती ने 'षट्खण्डागम' के उक्त खण्डों के आधार पर 'गोम्मटसार' लिखा, जिसे जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड नाम से दो भागों में वर्गीकृत किया गया। इस महाग्रन्थ पर पुष्पदन्ताचार्य के १७७ टीकात्मक सूत्र मिलते हैं, जिनकी भाषा प्राकृत है। धवला टीका के लगभग तीन अंश प्राकृत में हैं और शेषांश संस्कृत में। इसके प्राकृत-अंश में शोरसेनी भाषा की परिमार्जित शैली के दर्शन होते हैं।

कसायपाहुड (कषायप्राभृत) :

'षट्खण्डागम' की भाँति 'कषायप्राभृत' भी दिगम्बरों के द्वादशांग के अन्तर्गत दार्शनिक ग्रन्थों में पांक्तेय है। इस ग्रन्थ में आचार्य गुणधर (ई० दूसरी शती) ने क्रोध आदि कषायों की रागद्वेष-परिणति और उनकी प्रकृतिगत स्थिति आदि के वैशिष्ट्य का निरूपण किया है। जैनदर्शन के प्रसिद्ध नयवाद और कर्मवाद के विशद विश्लेषण की दृष्टि से इस ग्रन्थ का सान्दर्भिक महत्त्व है।

तिलोयपण्णत्ति (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) :

इस ग्रन्थ की परिगणना करणानुयोग के अन्तर्गत होती है। यतिवृषभ आचार्य की प्राकृत में लिखी गई यह दूसरी रचना है। इसमें त्रिलोक-सम्बन्धी वर्णन है। भूगोल और खगोल के चमत्कारपूर्ण वर्णन की दृष्टि से यह एक प्रामाणिक सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में बहुसमादृत है। इसमें सम्यक्त्व और सुख की दार्शनिक विवेचना का विनियोजन, दृष्टान्तोपजीवी होने के कारण, बड़ा रोचक एवं हृद्य बन पड़ा है।

पंचास्तिकाय : प्रवचनसार : समयसार :

आचार्य कुन्दकुन्द के इन तीनों ग्रन्थों को नाटकत्रय अथवा प्राभृतत्रय की संज्ञा दी गई है। दिगम्बर-सम्प्रदाय में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द का नाम-कीर्त्तन किया जाता है। उदाहरणार्थ, मंगलश्लोक इस प्रकार है :

> मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
> मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

आचार्य कुन्दकुन्द को पद्मनन्दि, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ के नामों से भी स्मरण करते हैं। कोण्डकुण्ड के निवासी होने के कारण इनका नाम 'कुन्दकुन्द'

हो गया। इनका स्थितिकाल ई० सन् की प्रथम शती से तृतीय-चतुर्थ शती के बीच निर्धारित किया गया है। इन ग्रन्थों में इन्होंने द्रव्य (पुद्गल) की सिद्धि के लिए शुद्ध निश्चय नय का विनियोग किया है। ये तीनों द्रव्यार्थिक नयप्रधान दर्शन-ग्रन्थ हैं।

'पंचास्तिकाय' में पाँच अस्तिकायों का वर्णन है। इसपर अमृतचन्द्र सूरि और जयसेन आचार्य ने संस्कृत में टीकाएँ लिखी हैं। इसमें संकलित १७३ गाथाएँ दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में पाँच अस्तिकायों का व्याख्यान है। इसी प्रसंग में द्रव्य, स्याद्वाद की सप्तभंगी, गुण एवं पर्याय, कालद्रव्य, जीव, सिद्धों का स्वरूप, पुद्गल का बन्ध, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के लक्षणों का प्रतिपादन हुआ है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नौ पदार्थों (पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष) की विवेचना की गई है।

इसी ग्रन्थ के अनुरूप 'प्रवचनसार' आचार्य कुन्दकुन्द की द्वितीय दार्शनिक कृति है। इसमें तीन श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम में ज्ञानाधिकार है, जिसमें आत्मा और ज्ञान के एकत्व और अन्यत्व, सर्वज्ञत्व की सिद्धि, ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, शुभाशुभ, शुद्ध उपयोग, मोहक्षय आदि की बड़ी तगड़ी मनोवैज्ञानिकतामूलक दार्शनिक प्रतिपत्ति उपस्थित की गई है। द्वितीय ज्ञेयाधिकार में द्रव्य, जीव, शुद्धात्मा आदि का प्ररूपण किया गया है और तृतीय चारित्राधिकार में श्रमण के लक्षण आदि एवं मोक्षतत्त्व का निरूपण हुआ है।

'समयसार' का विषय भी 'पंचास्तिकाय' का अनुगामी है। इसमें ४३७ गाथाएँ दस अधिकारों में वर्गीकृत हैं। 'समयसार' का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट हुआ है :

कम्मं बद्धमबद्धं जीवं एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥

नई दिशा के संकेतक तत्त्व :

दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या की दृष्टि से आगमचक्षु कुन्दकुन्दाचार्य के निर्वचन स्वयंप्रमाण हैं, इसलिए इनके उक्त तीनों ग्रन्थ जैनदर्शन के पार्यन्तिक प्रकाशनों में परिगणनीय हैं। प्राकृत के ये दर्शनग्रन्थ संस्कृत के षड्दर्शन-ग्रन्थों के समानान्तर अध्ययन करने के निमित्त अनेक ऐसे दार्शनिक तत्त्व, विशेषत: पदार्थसिद्धि के सन्दर्भ में, उपलब्ध हो सकते हैं, जिनसे संस्कृत के दर्शन-ग्रन्थों के अध्ययन में नई दिशा बनने की सम्भावनाएँ हैं। विशेषकर, 'प्रवचनसार' और 'समयसार' में अनासक्तियोग के जो आचार-तत्त्व प्रतिपादित हुए हैं, उनका 'श्रीमद्भगवद्गीता' के योगतत्त्व के सन्दर्भ में समानान्तर अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

उपरिविवृत प्राकृत-दर्शनग्रन्थों के अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें चारित्र, ज्ञान और दर्शन की व्याख्या जीव और अजीवात्मक संसार के सन्दर्भ

में की गई है। इस प्रकार के ग्रन्थों में 'नियमसार', 'रयणसार', 'अष्टपाहुड', 'भगवती-आराधना', 'मूलाचार', 'गोम्मटसार', 'द्रव्यसंग्रह', 'जंबुद्दीवपण्णत्तिसंगह', 'दर्शनसार' 'सिद्धान्तसार' आदि के नाम हठात् जीभ पर आनेवाले हैं। मुख्यतः पदार्थ और मोक्षतत्त्व की सिद्धि में प्राकृत-जैनदर्शन एवं संस्कृत-वैदिक दर्शन में प्राप्त बौद्धिक विलास-वैशिष्ट्य को जानने के लिए ये सारे प्राकृत-दर्शनग्रन्थ समानान्तर भाव से अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं।

आगमोत्तर काल : शास्त्रार्थ-युग :

आगमोत्तर काल (ई० सन् की ५वीं शती से १०वीं शती तक) में दार्शनिक सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन की प्रथा अधिक रही। इस अवधि में अनेक शास्त्रार्थी पण्डित हुए, जिन्होंने प्राकृत में शास्त्रार्थ-शैली में ग्रन्थ रचे। यहाँ ज्ञातव्य है कि शास्त्रार्थ-शैली को वहन करने की क्षमता प्राकृत जैसी कोमलकान्त भाषा में उतनी नहीं है, जितनी संस्कृत में। किन्तु, विक्रम की ५वीं शती में **सिद्धसेन दिवाकर** ऐसे विद्वान् हुए, जिन्होंने जैनदर्शन और न्याय पर प्राकृत में तीन काण्डों में विभक्त 'सम्मइपयरण' ('सन्मतितर्क' या 'सन्मतिप्रकरण') नाम की पुस्तक का प्रणयन किया। इसमें विद्वान् लेखक ने नयवाद का विवेचन करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना की है, साथ ही दर्शन-ज्ञान की व्याख्या के प्रसंग में द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व की सिद्धि का शास्त्रीय विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। यों, जैनदर्शन के क्षेत्र में प्राकृत-भाषा में विशिष्ट ग्रन्थों के प्रणेता के रूप में **आचार्य कुन्दकुन्द** की द्वितीयता है ही नहीं। हाँ, उनके बाद यदि और किसी का नाम लिया जा सकता है, तो वह दूसरा नाम **सिद्धसेन दिवाकर** का ही होगा।

संस्कृत-प्राकृत के दार्शनिक ग्रन्थों का समानान्तर अध्ययन आवश्यक :

आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृतनिबद्ध दार्शनिक व्याख्याओं में अनेक ऐसे दिशासंकेत हैं, जिनका संस्कृत-निबद्ध उपनिषदों की दार्शनिक विवेचना के सन्दर्भ में समानान्तर अध्ययन सम्भव है। इसी प्रकार, **सिद्धसेन दिवाकर** की प्राकृत में लिखित दार्शनिक विश्लेषण की पद्धति को संस्कृत के नैयायिकों की व्याख्या-शैली के समानान्तर रखकर निरखा-परखा जा सकता है।

निष्कर्ष : कहना यह कि संस्कृत में दार्शनिक तत्त्वों के प्रतिपादन के निमित्त जितनी संख्या और विधा में ग्रन्थ उपलब्ध हैं, प्राकृत में भी उतनी ही संख्या और विधा में ग्रन्थों की रचना हुई है। इसलिए, संस्कृत के दार्शनिक तत्त्वों का अध्ययन प्राकृत के दार्शनिक तत्त्वों के अध्ययन के विना पूर्ण नहीं माना जायगा। यहाँ एक विशेषता ध्यातव्य है कि प्राकृत में जितने दार्शनिक तत्त्व निबद्ध हुए हैं, उनकी व्याख्याएँ

प्रायः संस्कृत में हुई हैं। इसलिए भी, बहिरंग दृष्टि से प्राकृत के ज्ञान के साथ ही संस्कृत का ज्ञान भी अनिवार्य है। अन्यथा, हम संस्कृत और प्राकृत-भाषा के दो तटों के बीच समानान्तर बहनेवाली वैदिक और जैन दार्शनिक धारा में अनुक्षण तरंगायित भारतीय संस्कृति को समग्रता से समझने में असमर्थ रहेंगे। भारतीय विद्या के क्षेत्र में जो दार्शनिक समृद्धि है, उसका बहुत बड़ा तात्त्विक अंश प्राकृत-भाषा में संगुम्फित है। इसलिए, भारतीय दर्शन की तत्त्वमूलक समृद्धि के सर्वांग ज्ञान के लिए प्राकृत और संस्कृत-भाषाओं में निबद्ध दर्शनों का समानान्तर अध्ययन अत्यन्त उपादेय होगा।

(ख) व्याकरण

पुराकाल में वैदिक ऋचाओं को उनके मूल रूप में सुरक्षित रखने के लिए संस्कृत-भाषा की शुद्धता पर जोर दिया गया था। परन्तु, प्राकृत तो जनभाषा थी, इसलिए संस्कृत की भाँति यह सांकुश नहीं थी। संस्कृत की गतानुगतिकता पर प्राकृत-भाषा के व्याकरण-नियम बहुत बाद में बने। इसलिए, **पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि** जैसे वैयाकरण प्राकृत के लिए असुलभ रहे। किन्तु, अर्द्धमागधी में निबद्ध बहुसंख्य ग्रन्थों में शब्दानुशासन-विषयक जो सामग्री उपलब्ध है, उससे यह सहज ही अनुमेय है कि प्राकृत-भाषा में प्राकृत के व्याकरण-ग्रन्थ अवश्य ही रहे होंगे, किन्तु अधुना वे दुष्प्राप्य हो गये हैं।

प्राकृत में शब्दानुशासन के सिद्धान्त :

अर्द्धमागधी-प्राकृत में निबद्ध तीन आगम-ग्रन्थ—'आचारांग', 'स्थानांग' और 'अनुयोगद्वारसूत्र' में व्याकरण के नियमों के कतिपय सूत्र-संकेत उपलभ्य हैं। 'आचारांग' (२।४।१-३६६) में तीन वचन, लिंग और काल का विवेचन है, तो 'स्थानांग' में आठ कारक निरूपित हुए हैं। 'अनुयोगद्वारसूत्र' ने शब्दों को पाँच वर्गों में सीमित किया है : १. नामिक, २. नैपातिक, ३. आख्यायिक, ४. औपसर्गिक और ५. मिश्र।[1] इनमें नामिक शब्दों को १. आगम, २. लोप, ३. प्रकृतिभाव और ४. विकार—इन चार विभागों में वर्गीकृत किया है।[2] 'अनुयोगद्वारसूत्र' में ही समास, तद्धित, धातु और निरुक्त—इन चारों को 'भाव' नाम से अभिहित किया गया है, जिनमें समास सात भागों में विभक्त है : द्वन्द्व, बहुव्रीहि, कर्मधारय, द्विगु, तत्पुरुष, अव्ययीभाव और एकशेष।[3] इसी प्रकार, तद्धित और विभक्तियों के आठ-आठ भेद बतलाये गये हैं। इससे इतना स्पष्ट है कि आगम-ग्रन्थकारों ने प्राकृत-भाषा में शब्दानुशासन-सम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर करने के निमित्त लिखित प्रयास किया था; किन्तु उसका ग्रान्थिक विकास अवरुद्ध ही रहा।

---

१. अनुयोगद्वारसूत्र, सू० १२५।

२. उपरिवत्, सू० १२४।

३. उपरिवत्, सू० १३०।

संस्कृत में निबद्ध प्राकृत-व्याकरण :

प्राकृत के वैयाकरणों में **चण्ड** (ई० तीसरी-चौथी शती), **वररुचि** (ई० छठी शती) और **हेमचन्द्र** (ई० ११वीं शती) प्रमुख हैं। इन तीनों प्रमुख प्राकृत-वैयाकरणों के स्थितिकाल से यह स्पष्ट है कि प्राकृत को व्याकरणसम्मत व्यवस्थित रूप बहुत बाद में मिला। और, आज जो प्राकृत का व्याकरण उपलब्ध है, उसके निर्माण में संस्कृत-व्याकरण के ही प्रायः सभी नियम उपादानकारण बने हैं। इसमें संस्कृत की ततोऽधिक प्राश्रयता और प्राकृत की प्राश्रयोपेक्षा ही मूल कारण है। संस्कृत में लिखित प्राकृत-व्याकरणों में प्राचीनता की दृष्टि से **चण्ड** के 'प्राकृतलक्षण' की गणना होती है। दूसरा स्थान **वररुचि** के 'प्राकृतप्रकाश' का है। ज्ञातव्य है कि **चण्ड** के उत्तरवर्त्ती सभी प्राकृत-वैयाकरण रचना-शैली और विषयानुक्रम की अनुकृति के लिए 'प्राकृतलक्षण' के अधमर्ण हैं।

अन्य प्राकृत-व्याकरण :

अन्य प्राकृत-व्याकरणों में **लंकेश्वर** के 'प्राकृतकामधेनु', **क्रमदीश्वर** के 'संक्षिप्तसार', **पुरुषोत्तम** के 'प्राकृतानुशासन' एवं **रामशर्मा तर्कवागीश**-कृत 'प्राकृत-कल्पतरु' की चर्चा असामान्य रूप से होती है, किन्तु सामान्य चर्चा की दृष्टि से सौभाग्यशाली प्राकृत-व्याकरणों में **मार्कण्डेय**-कृत 'प्राकृतशब्दानुशासन' (१३वीं शती) को पांक्तेयता प्राप्त है, किन्तु प्राकृत-भाषा की जानकारी के लिए अधिक उपयोगी **लक्ष्मीधर** की 'षड्भाषाचन्द्रिका' है। इसका अध्ययन **भट्टोजिदीक्षित** की 'सिद्धान्त-कौमुदी' के समानान्तर किया जा सकता है। **त्रिविक्रमदेव** के ही सूत्रों को 'लघु-सिद्धान्तकौमुदी' की पद्धति पर संकलित कर **सिंहराज** (१५वीं शती) ने 'प्राकृतरूपा-वतार' की रचना की। **सिंहराज** की तुलना संस्कृत के वैयाकरण **वरदाचार्य** से की जा सकती है।

मार्कण्डेय का उक्त व्याकरण 'प्राकृतसर्वस्व' महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि, **हेमचन्द्र** ने जहाँ पश्चिमीय प्राकृत-भाषा की प्रवृत्तियों का अनुशासन प्रस्तुत किया है, वहीं **मार्कण्डेय** ने पूर्वीय प्राकृत की प्रवृत्तियों का नियमन उपस्थापित किया है।

उक्त प्राकृत-व्याकरणों के अतिरिक्त, **शुभचन्द्र** की 'शब्दचिन्तामणि', **श्रुतसागर** की 'औदार्यचिन्तामणि', **अप्पय्यदीक्षित** का 'प्राकृतमणिदीप' (१६वीं शती), **रघुनाथ-कवि** का 'प्राकृतानन्द' (१८वीं शती), **देवसुन्दर** की 'प्राकृतयुक्ति' आदि भी तत्त्व-महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय हैं। इस सन्दर्भ में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना से प्रकाशित 'प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण' (**डॉ० रिचर्ड पिशेल**) अपनी अवश्य-पठनीयता रखता है।

निष्कर्ष :

कहना न होगा कि प्राकृत के मुख्य सात भेदों—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश का संस्कृत से अविच्छेद्य सम्बन्ध है।

इसलिए, इनका समानान्तर अध्ययन करने पर हमें इस बात का सहज ही अनुमान होगा कि पाणिनि द्वारा नियोजित भाषा लोक-प्रचलित भाषा से कितनी दूर तक प्रभावित होती रही और उसके शब्दों और रूपों को कहाँतक आत्मसात् करती रही। इसके अतिरिक्त, यह भी स्पष्ट होगा कि प्राकृत और अपभ्रंश ने संस्कृत का अनुगमन करके इसके शब्दों का, अपने नियमों के आधार पर, किस प्रकार रूपान्तर प्रस्तुत किया।

(ग) छन्द: कोश

१.१ छन्द :

छन्द की परिभाषा : छन्द का सम्बन्ध सांगीतिक अनुबन्ध पर आधृत है। चूँकि संगीत जड-चेतन सबको प्रभावित कर लेने की अद्‌भुत क्षमता रखता है, इसलिए छन्द भी अपनी प्रभावकता से जन-मन को मोह लेने की शक्ति से सम्पन्न होता है। सच पूछिए, तो जन-जन तक पहुँचकर उसके मन को मुग्ध या आविष्ट कर लेने की शक्ति को ही 'प्रेषणीयता' कहा जा सकता है। इसी प्रेषणीयता के लिए कवियों ने अपनी कविता के निमित्त छन्द का आश्रय ग्रहण किया। छन्द बन्धन नहीं है, अपितु काव्य को प्रेषणीय बनाने का रस-मधुर साधन है। इसी साधन के माध्यम से कवि अपनी कविता के प्रति जन-जन को न केवल संवेदनशील ही बनाता है, अपितु जन और युग के मनोभावों, उनकी आशा-आकांक्षाओं, अनुराग-विराग आदि भावनाओं को तदात्म करके एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक और एक युग से दूसरे युग तक पहुँचा देता है।

मोटे तौर पर हम इतना कह सकते हैं कि कविता में सन्तुलन और प्रेषणीयता लाने के लिए छन्द की अनिवार्यता होती है। मात्रा, वर्ण और यति में शब्दों का विनियोजन भावों को जहाँ स्पन्दित करता है, वहीं शब्दगत गति-झंकृति को प्रवाहपूर्ण एवं हृदयावर्जक बनाता है। भावों के बाँकपन का बहुत अधिक दूर तक श्रेय छन्द को दिया जा सकता है। छन्द का आरम्भ 'ऋग्वेद' की लयाश्रित नृत्यशील ऋचाओं से माना जाता है, इसलिए इसके नाम 'छन्दस्' (वेद) की संगति बड़ी सटीक प्रतीत होती है। प्राकृत-भाषा को लोकजीवन से सम्बद्ध होने के कारण इसके छन्दों का विकास नृत्य और संगीत पर आधृत है। इसकी मात्राबद्धता याताललयाश्रयता से उक्त विषय-बिन्दु स्वतः समर्थित है।

प्राकृत के छन्दोग्रन्थ :

उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट छन्दोग्रन्थ संस्कृत में जितनी संख्या में मिलते हैं, प्राकृत में तदपेक्षया स्वल्प हैं। किन्तु, जो उपलब्ध हैं, उनकी विशिष्टता पार्यन्तिक है। यहाँ संस्कृत-छन्दोग्रन्थों के समानान्तर अध्ययन के लिए कतिपय प्राकृत-ग्रन्थों का विवरण उपन्यस्त है।

वृत्तजातिसमुच्चय :

यह पद्यमय प्राकृत-भाषा में निबद्ध छन्द शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका रचयिता विरहांक है, जो छठी शती का, प्राकृत-संस्कृत का पारंगत विद्वान् ब्राह्मण था। इस कवि ने अपनी प्रिया को लक्ष्य कर इस ग्रन्थ की रचना की है, जिस प्रकार कालिदास नामक किसी विद्वान् ने अपनी प्रिया को सम्बोधित करते हुए 'श्रुतबोध' नामक संस्कृत में पद्यबद्ध छन्दोग्रन्थ की अवतारणा की है। इसलिए, 'वृत्तजातिसमुच्चय' का 'श्रुतबोध' के समानान्तर अध्ययन करने की आवश्यकता है।

'वृत्तजातिसमुच्चय' में मात्रिक और वार्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन है, जिसे छह नियमों में आबद्ध किया गया है। कवि ने संस्कृत-छन्दःशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य पिंगल का प्रभावस्पर्श ग्रहण किया है, यही कारण है कि इसने मंगलाचरण में सरस्वती की वन्दना करते हुए जहाँ गन्धहस्ती, सद्भावलांछन और अपलेपचिह्न को नमस्कार किया है, वहीं आचार्य पिंगल भी इसके लिए प्रणम्य बने हैं। विरहांक ने अपने इस ग्रन्थ के प्रथम नियम से चतुर्थ नियम तक प्राकृत-छन्दों की विशद वर्णना की है और पंचम नियम में संस्कृत के पचास वार्णिक छन्दों की विवृति प्रस्तुत की है। इससे स्पष्ट है कि कवि स्वयं प्राकृत और संस्कृत के समानान्तर अध्ययन का आग्रही था। संस्कृत के 'वृत्तरत्नाकर' के परिप्रेक्ष्य में भी इस छन्दोग्रन्थ का अध्ययन अपेक्षित है।

गाहालक्खण (गाथालक्षण) :

यह नन्दिताढ्य जैन (सन् १००० ई०) द्वारा प्राकृत-छन्दों पर लिखी गई अत्यन्त प्राचीन कृति है। इसमें ९२ गाथाओं में गाथाछन्द की विवेचना प्रस्तुत की गई है। प्राकृत में जिस प्रकार गाथा छन्द प्रचलित-समादृत है, उसी प्रकार संस्कृत में आर्या छन्द। आर्या और गाथा की सूक्ष्मता की जानकारी के लिए समानान्तर अध्ययन के क्रम में इस ग्रन्थ से तात्त्विक सहायता मिलने की सम्भावना है। यह एक गौण छन्दोग्रन्थ है।

प्राकृत के अन्य गौण छन्दोग्रन्थों में 'कविदर्पण' (ई० १३वीं शती), 'छन्दःकोश' (रत्नशेखरसूरि : ई० १४वीं शती), 'छन्दोलक्षण', 'छन्दःकन्दली', 'स्वयम्भूच्छन्द' आदि की गणना की गई है, जिनकी छन्दःशास्त्रीय समृद्धि संस्कृत के छन्दोग्रन्थों के समक्ष अतिशय महत्त्व नहीं रखती, फिर भी प्राकृत और संस्कृत-छन्दों के वैशिष्ट्य-परिज्ञान के लिए इनका समानान्तर अध्ययन आवश्यक है। इस सन्दर्भ में, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना से प्रकाशित 'मात्रिक छन्दों का विकास' (डॉ० शिवनन्दन प्रसाद) पर्याप्त अध्ययन-साहाय्य प्रदान कर सकता है।

प्राकृतपैंगलम् :

सच पूछिए, तो प्राकृत के पार्यन्तिक छन्दोग्रन्थों में 'प्राकृतपैंगलम्' ही प्रतिनिधि-ग्रन्थ के रूप में सर्वमान्य है। यह एक संग्रहग्रन्थ है और इसके संग्रहकार का पता नहीं चलता। चूँकि इसमें 'कर्पूरमंजरी' के पद्य उद्धृत हैं, इसलिए इसका संग्रहकाल ई० की १४वीं शती निर्धारित किया गया है। इसमें मेवाड़ के राजपूत राजा हम्मीर की वीरता का मनोहर्षक चित्रण है। हम्मीर का राज्यकाल ई० सन् की १४वीं शती बताया जाता है। इन सब उल्लेखों के आधार पर संग्रहकर्त्ता का समय आचार्य हेमचन्द्र से बाद का स्थिर होता है। संग्रहकर्त्ता इस संग्रह के लिए आचार्य पिंगल का आभारी है।

'प्राकृतपैंगलम्' दो परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम में मात्रिक छन्दों का एवं द्वितीय में वार्णिक छन्दों का निरूपण है। कहना न होगा कि प्राकृत के मालाधरा, चन्द्रमाला, गीता, मंजीरा, दुर्मिला, लीलावती, पद्मावती आदि छन्दों की द्वितीयता संस्कृत के छन्दों में भी नहीं मिलती। इन छन्दों की ओजस्विता, गतिमत्ता एवं प्राणमयता के समक्ष संस्कृत का कोई भी छन्द मन्दप्रभ प्रतीत होता है। पद्मावती छन्द का एक उदाहरण लें। इसमें काशी-नरेश के युद्ध-प्रयाण का रोमांचकारी चित्रण है :

> भअ भज्जिअ वंगा भंगु कलिंगा तेलंगा रण मुक्कि चले।
> मरहट्ठा धिट्ठा लग्गिअ कट्ठा सोरट्ठा भअ पाअ पले॥
> चंपारण कंपा पव्वअ झंपा ओत्था ओत्थी जीव हरे।
> कासीसर राणा किअउ पआणा विज्जाहर भण मंतिवरे॥ (१।१४५)

निष्कर्ष :

कहना न होगा कि 'प्राकृतपैंगलम्' ऐसे अनेक ऊर्जस्वल छन्दों का आगार तो है ही, साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं भौगोलिक विषय-वस्तुओं का भी बृहत्कोश है। संस्कृत के छन्दोग्रन्थों में लक्ष्य में लक्षण की संगति पर जितना अधिक ध्यान दिया गया है, उसमें साहित्यिक-सांस्कृतिक महत्त्व के तत्त्वों के समावेश पर उतनी ही अधिक उदासीनता बरती गई है। इसलिए, केवल संस्कृत के छन्दों के अध्ययन से छन्दोज्ञान की परिपूर्णता नहीं प्राप्त हो सकती। इस परिपूर्णता की प्राप्ति के लिए प्राकृत के छन्दों का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। 'प्राकृतपैंगलम्' तो निश्चय ही भारतीय संस्कृति का महार्घ ज्ञानकोष ही है।

१.२ कोश :

कोश की परिभाषा : कोश को किसी भी भाषा के शब्दों का रक्षक एवं पोषक कहा गया है। कहा भी है :

कोशश्चैव महीपानां कोशश्च विदुषामपि ।
उपयोगो महान्नेष क्लेशस्तेन विना भवेत् ॥

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार राजाओं या राष्ट्रों का कार्य विना कोष (खजाना) के नहीं चल सकता, उसी प्रकार शब्दकोश के विना विद्वानों का अर्थ-ग्रहण-कार्य नहीं चल सकता। और भी कहा है :

विना व्याकरणेनान्धः वधिरः कोशवर्जितः ।
अलङ्कारं विना पङ्गुः मूकस्तर्कविवर्जितः ॥

अर्थात्, विना व्याकरण का व्यक्ति अन्धा होता है। वह शास्त्र में प्रवेश नहीं कर सकता। इसी प्रकार, अलंकार के विना वह पंगु होता है और तर्क के विना गूंगा। और, जो कोश से वर्जित है, वह तो बहरा ही होता है। यानी, विना कोश के शब्दों की गूढता या ध्वन्यात्मकता समझ में नहीं आती और न उसकी आर्थिक झंकृति ही सुनाई पड़ती है।

शब्दकोश का वैयक्तिक महत्त्व न होकर उसका सामाजिक मूल्य होता है। जिस प्रकार आर्थिक मूल्यों को व्यावहारिक रूप देने के लिए सिक्के का प्रचलन है, उसी प्रकार भाषा को सर्वजनसुलभ बनाने के लिए कोशों का प्रणयन होता है।

प्राकृत के कोशग्रन्थ :

प्राकृत-छन्दोग्रन्थों के समानान्तर अध्ययन के तत्त्व-संकेत के प्रसंग में प्राकृत-कोशग्रन्थों की चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। संस्कृत में 'अमरकोश' को जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान प्राकृत में 'पाइअलच्छीनाममाला' को दिया जाता है। धनपाल ने अपनी सुन्दरी अनुजा के लिए दसवीं शती (सं० १०२९ वि०) में, धारा नगरी में इस कोश की रचना की।[1] हेमचन्द्र ने 'अभिधानचिन्तामणि' की 'स्वोपज्ञ' वृत्ति में धनपाल कवि का उल्लेख किया है। इससे स्वतः सिद्ध है कि धनपाल हेमचन्द्र के समय पर्याप्त यशोधन हो चुके थे। इसमें कुल २७५ गाथाएँ हैं और ९९८ शब्दों के पर्याय संकलित हैं। इस कोश में संस्कृत-व्युत्पत्तियों से सिद्ध प्राकृत तथा देशी शब्दों को एकत्र किया गया है। इस कोश का 'अमरकोश' के समानान्तर अध्ययन करने से अनेक ऐसे तत्त्वों के मिलने की सम्भावना है, जिनसे संस्कृत और प्राकृत-शब्दों की पारस्परिक वैयुत्पत्तिक एवं आर्थिक महत्ता के सन्धान में भाषिकी सुविधा सुलभ हो सकती है।

उक्त कोश के अतिरिक्त आचार्य हेमचन्द्र का 'देशीशब्दसंग्रह' या 'देशीनाम-माला' भी उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक आर्यभाषाओं के शब्दों के सांगोपांग अध्ययन के लिए यह प्राकृत-कोश बड़ा सशक्त आधार हो सकता है।

---

१. द्र० : पाइअलच्छीनाममाला, गाथा १-२ ।

प्राकृत-भाषा की शब्दनिधि में प्रायः तत्सम, तद्भव और देशी —इन तीनों प्रकार के शब्द होते हैं। किन्तु, आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं कहा है कि 'इस कोश में ऐसे शब्द संकलित हैं, जो न तो व्याकरण से व्युत्पन्न हैं और न संस्कृत-कोशों में निबद्ध हैं, तथा लक्षणाशक्ति के द्वारा भी जिनके अर्थ प्रसिद्ध नहीं हैं।'[१] इस कोश में ३९७८ शब्द संकलित हैं। आचार्य हेमचन्द्र के इस कोश में संकलित शब्दों के उक्त स्वरूप-निर्धारण के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत-कोशों के समानान्तर अध्ययन की आवश्यकता और अधिक बढ़ जाती है।

निष्कर्ष :

प्राकृत-कोशों के संस्कृत-कोशों के समानान्तर अध्ययन से आर्यभाषाओं एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं की पारस्परिक सम्बद्धता की महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान् सूचनाएँ मिलने की सम्भावना है एवं संस्कृत-कोशों की समृद्धि से परितृप्त विद्वानों के लिए प्राकृत-कोशों की सम्पन्नता से और अधिक सन्तुष्ट होने की आशा है।

(घ) अलंकार

अलंकार की परिभाषा : भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में जो मूल्य व्याकरण का है, वही मूल्य काव्य के अनुशीलन के क्षेत्र में अलंकार का है। अलंकार से काव्य के अर्थ में मार्मिकता तो आती ही है, भावों में व्यंजना का माधुर्य भी आता है। काव्य के शब्द और अर्थ की शोभातिशयता के लिए अलंकारों की आवश्यकता होती है,[२] ऐसा आचार्य विश्वनाथ का मत है।

प्राकृत के पद्यों में आलंकारिक तत्त्व :

अलंकारशास्त्रियों ने न केवल अलंकार की, अपितु काव्य के स्वरूप रस, गुण, दोष, रीति आदि के विश्लेषण द्वारा काव्य के चमत्कार को भी निरूपित किया है। प्राकृत-भाषा में जिस प्रकार व्याकरण-ग्रन्थों की स्वल्पता है, उसी प्रकार अलंकार-ग्रन्थों की भी अबहुलता है। किन्तु, प्राकृत के साहित्यिक श्लोकों में अलंकारों की बड़ी सबल एवं सरस विच्छित्ति पाई जाती है। यही कारण है कि संस्कृत के आलंकारिकों ने अपने अलंकारों के लक्षणों में लक्ष्य की संगति के लिए प्राकृत के पद्यों को प्रचुरता से उदाहृत किया है। इसलिए, अलंकारों के वैशिष्ट्य की दृष्टि से संस्कृत के अलंकार-लक्षणों का प्राकृत के उदाहरणों के समानान्तर अध्ययन की अपेक्षा या अवसर अधिक बढ़ जाता है। संस्कृत के आलंकारिकों ने प्राकृत के प्रति बड़ी ही प्रियता का प्रदर्शन किया है। प्राकृत-भाषा के लिए ततोऽधिक महत्ता इसी मानी में है कि उसके पद्य संस्कृत के अलंकारों के उदाहरण के रूप में स्वीकृत किये गये हैं। इससे भी संस्कृत का प्राकृत से प्रभावित होना सुस्पष्ट है।

---

१. देशीनाममाला, १।३-४।

२. द्र० : साहित्यदर्पण, परिच्छेद १०, कारिका १।

संस्कृत के आलंकारिक कवियों द्वारा प्राकृत-पद्यों के उदाहरणों का स्वीकरण :

संस्कृत के महाकवि दण्डी (७वीं शती) ने अपने 'काव्यादर्श' में भाषा के चार भेद करते हुए संस्कृत के बाद प्राकृत को स्थान दिया है। रुद्रट (९वीं शती) ने 'काव्यालंकार' में भाषा के छह भेद मानते हुए प्राकृत को प्रथम स्थान दिया है और छहों भाषाओं (प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश) के उदाहरण के लिए प्राकृत-गाथाओं की रचना की है। 'ध्वन्यालोक' के रचयिता **आनन्दवर्द्धन** (९वीं शती) और उसके टीकाकर्त्ता **अभिनवगुप्त** ने भी ध्वनि-विवेचन के प्रसंग में प्राकृत की गाथाएँ उद्धृत की हैं। **भोजराज** (ई० १०-११वीं शती) ने अपने प्रसिद्ध अलंकार-ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में बहुसंख्य प्राकृत-पद्य उदाहृत किये हैं। **'अलंकार-सर्वस्व'** में **राजानक रुय्यक** (ई० १२वीं शती) ने अपने अलंकारों के वैदुष्यपूर्ण वर्णन के क्रम में प्राकृत के लगभग दस पद्यों को उदाहरण के रूप में रखा है। **राजानक** के ही समसामयिक **मम्मट** (१२वीं शती) ने भी अपनी प्रसिद्ध कृति 'काव्यप्रकाश' में प्राकृत की गाथाएँ अलंकार-वर्णन के सन्दर्भ में उद्धृत की हैं। **हेमचन्द्र** के 'काव्यानुशासन' में भी प्राकृत-पद्य संगृहीत हैं। **कविराज विश्वनाथ महापात्र** (ई० सन् की १४वीं शती का पूर्वार्द्ध) ने **मम्मट** के 'काव्यप्रकाश' की आलोचना के रूप में 'साहित्यदर्पण' की रचना की थी। इसमें इन्होंने प्राकृत के पद्य उद्धृत किये हैं। इतना ही नहीं, इन्होंने 'कुवलयाश्वचरित' नामक एक प्राकृत-काव्य की भी रचना की थी। ये अट्ठारह भाषाएँ जानते थे, इसलिए इन्होंने अपने को 'अष्टादशभाषा-वारविलासिनी-भुजंग', अर्थात् 'अट्ठारहभाषा-रूपी वेश्याओं का लम्पट' कहा है। सत्रहवीं शती में **शाहजहाँ** द्वारा 'पण्डितराज' की उपाधि से विभूषित जगन्नाथ कवि ने अपनी प्रसिद्ध काव्यालोचन-कृति 'रसगंगाधर' में प्राकृत की गाथाएँ स्वयं रचकर उदाहरण के रूप में उपन्यस्त की हैं।

निष्कर्ष :

इस प्रकार, संस्कृत के प्राचीन वैयाकरणों, कवियों, नाटककारों, कथाकारों, आलोचकों और अलंकारशास्त्रियों की एक ऐसी लम्बी सूची प्राप्त होती है, जिन्होंने प्राकृत के प्रति, या तो स्वयं प्राकृत में रचना करके या अन्यरचित प्राकृत-पद्यों को उदाहरण के रूप में अंगीकार करके अपार श्रद्धा और अमित प्रेम प्रदर्शित किया है। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय प्राकृत और संस्कृत के तत्त्वों का समानान्तर अध्ययन निरन्तर सहज स्वाभाविक रूप से विशिष्ट विद्वज्जनों में एवं सामान्य शिक्षित जनों में भी पूर्णतया प्रचलित था।

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिज्ञात विषय के पल्लवन से पाठकों को हमारी यह बात निश्चय ही सही जँचेगी कि संस्कृत और प्राकृत दो भाषाएँ नहीं, अपितु एक ही भाषा के दो रूप हैं। भिन्नता केवल इसी बात की है कि प्राकृत में कथ्यभाषा के अधिक तत्त्व मिलते हैं और संस्कृत में लिखित एवं मानक भाषाओं के गुणों का प्राचुर्य है।

छान्दस भाषा से प्राकृत का विकास :

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[1], **डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित**[2], **डॉ० पी० डी० गुणे**[3] आदि भाषावैज्ञानिकों के मतों के मन्थन से भी यह निष्कर्ष-नवनीत निकलता है कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का उद्भव और विकास प्राचीन जनभाषा से ही हुआ है, जिसे संस्कृत करके छान्दस साहित्य-भाषा का रूप-निर्माण किया गया। कहना यह कि छान्दस भाषा से वैदिक वाङ्मय का प्रणयन हुआ है, उसमें लोकभाषा के अनेक स्रोत उपलब्ध होते हैं। उक्त भाषावैज्ञानिकों ने अनेक उदाहरण-प्रत्युदाहरणों के द्वारा यह प्रमाणित किया है कि छान्दस संस्कृत में अनेक विभाषाओं के बीज विद्यमान हैं। 'ऋग्वेद' की भाषा तो तत्कालीन पुरोहितों और राजाओं की भाषा थी, किन्तु 'अथर्ववेद' की भाषा में जनभाषा के रूप मिलते हैं। और, प्राकृत-भाषा का अस्तित्व निश्चित रूप से वैदिक बोलियों पर निर्भर करते हैं। इसी वैदिक प्राकृत से परवर्त्ती साहित्यिक भाषाओं का विकास हुआ। अतः, संक्षेपतः यह कहा जा सकता है, छान्दस भाषाओं के अध्ययन के लिए प्राकृत-भाषा का अध्ययन अपेक्षित ही नहीं, अपितु अनिवार्य है।

छान्दस भाषा में प्राकृत के तत्त्व :

भाषातत्त्व की दृष्टि से भी प्राकृत के स्वरूप-ज्ञान के बिना छान्दस भाषा का स्वरूप-ज्ञान सम्भव नहीं है। छान्दस भाषा में 'पश्चात्' की जगह 'पश्चा', युष्मान्' की जगह 'युष्मा', 'उच्चात्' के स्थान पर 'उच्चा' एवं 'नीचात्' की जगह 'नीचा'

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५७ ई०, पृ० १५।

२. प्राकृत-भाषा, प्र० श्रीपार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, पृ० १३।

३. एन् इण्ट्रोडक्शन टु कम्परेटिव फिलॉलॉजी, सन् १९५० ई०, पृ० १६३।

का प्रयोग मिलता है। ऐसे प्रयोग में दो स्थितियाँ हैं। प्रथम में, अन्त व्यंजन का लोप होता है और द्वितीय में, अन्त व्यंजन में दीर्घ आ स्वर लगता है। स्पष्ट ही, यह प्रवृत्ति प्राकृत-भाषा की है और इसका प्रवेश छान्दस भाषा में हुआ है।

इसी प्रकार, छान्दस भाषा की पदरचना का अध्ययन प्राकृत की पदरचना के अध्ययन के बिना अपूर्ण है; क्योंकि 'देवेभिः', देवासः', 'जनासः' आदि तृतीया और प्रथमा के जो बहुवचन-रूप 'ऋग्वेद' में देखे जाते हैं, वे रूप प्राकृत की तरह हैं। जैसे : 'इन्द्रावरुणा', 'मित्रावरुणा' 'द्यावापृथिवी' आदि। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से भी संस्कृत-ध्वनियों के अध्ययन के सन्दर्भ में प्राकृत-ध्वनियों के अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है। उदाहरणार्थ : 'मारिष', 'इङ्गाल' और 'मैरेय' ये तीनों शब्द प्राकृत-ध्वनि से युक्त प्राकृत-भाषा के शब्द हैं। इनके, प्राकृत-मूलध्वनि के शब्द 'मारिस', 'इंगाल' और 'मइरेय' हैं, जिनका संस्कृतीकरण कर लिया गया है। यद्यपि 'मारिस' शब्द का विकास संस्कृत के 'मादृश' से सम्भावित है, परन्तु यह नितान्त भ्रम ही है। क्योंकि, यह शब्द आदर के अर्थ में सम्बोधन में प्रयुक्त है। संस्कृत-नाटकों में इसका प्रयोग प्राकृत-भाषा से उधार लिया गया है। कवि श्रीहर्ष ने 'इङ्गाल' शब्द का प्रयोग किया है : 'वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे।' (नैषध, १।८) यह शब्द भी प्राकृत से ही संस्कृत में ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार, 'मइरेय' का विकास 'मदिरा' से माना जाता है, जो युक्तियुक्त नहीं। यह मूलतः प्राकृत-ध्वनि से निष्पन्न-सम्पन्न शब्द है, किन्तु संस्कृत में इसका प्रयोग प्रचुरता से मिलता है और आयुर्वेद में तो इसे मद्य का पर्याय ही मान लिया गया है।[1] संक्षेप यह कि उत्तर वैदिक काल की 'उदीच्य भाषा' प्राकृत-भाषा के अधिक निकट है। महर्षि पाणिनि ने इसी उदीच्य भाषा का आधार लेकर साहित्यिक एवं परिसंस्कृत रूप के निर्माण के लिए व्याकरण की रचना की।

संस्कृत के अध्ययन के लिए निपातसिद्ध शब्दों एवं उपसर्गों तथा अव्ययों का बोध आवश्यक है और इनका ज्ञान प्राकृत-देशी शब्दों के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय'[2] में लिखा है कि संस्कृत में प्रयुक्त अनेक शब्द सिद्ध-परम्परा को छोड़कर जनपरम्परा से आये हैं। तो, इन परम्परागत शब्दों का अध्ययन संस्कृत-भाषा-विषयक प्रवृत्ति के अध्ययन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

---

१. द्र० भावप्रकाश, सन्धानवर्ग, श्लो० १७।

२. 'पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः॥'

—वाक्यपदीय, १।१५४।

संस्कृत-वाङ्मय के अध्ययन के लिए प्राकृत-वाङ्मय का अध्ययन :

संस्कृत के भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिए जिस प्रकार प्राकृत के भाषातत्त्व का अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार संस्कृत-वाङ्मय के अध्ययन के लिए विविध काव्यरूपों एवं दर्शन-सिद्धान्त के विषयों के परिज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्राकृत-वाङ्मय का अध्ययन अपेक्षित है। निश्चय ही, संस्कृत के चरितकाव्य के मूलस्रोत प्राकृत के चरितकाव्यों में निहित हैं। चरितकाव्य या कथाकाव्य के उपजीव्य ऐतिहासिक वृत्तों की प्रचुरता प्राकृत-वाङ्मय में ही प्राप्त होती है। ऐतिहासिक वृत्तों का रसमय अलंकृत वर्णन एवं रसानुगा वर्णन-शैली के माध्यम से चारित्रिक व्यक्तित्व का निर्माण चरितकाव्यों के प्रमुख प्रतिपाद्य हैं, जिनकी उपलब्धि प्राकृत के आगम-साहित्य में भूयिष्ठता से प्राप्य है। 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' और 'कल्पसूत्र' जैसे प्राकृत-ग्रन्थों में चरितकाव्य के प्रचुर उपकरण वर्त्तमान हैं। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री का अनुमान है कि संस्कृत-चरितकाव्यों के उपकरण खारवेल के हाथीगुम्फा-शिलालेख में उपलब्ध होते हैं। संस्कृत के चरितकाव्य-लेखकों ने 'प्राकृत-शिलालेख'; 'उपासकदशा', 'कल्पसूत्र' आदि प्राकृत-स्रोतों से उपादान एकत्र कर चरितकाव्यों की संस्कृत-निबद्ध रचना की है, इसमें सन्देह नहीं। हालाँकि, यह भी सत्य है कि 'नैषधचरित' जैसा काव्य प्राकृत में नहीं है, लेकिन यह भी असत्य नहीं है कि संस्कृत-चरितकाव्य में प्रतिफलित चरितों के मूल-प्रवृत्त्यात्मक तत्त्वों और उनके गुण-दोषों का ज्ञान प्राकृत-चरितकाव्यों के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार, प्राकृत-कथाकाव्यों में अनेक ऐसे तत्त्व हैं, जिनके परिज्ञान के बिना संस्कृत की 'कादम्बरी', 'वासवदत्ता', 'अवन्तिसुन्दरी' जैसी उत्कृष्ट कथा-कृतियों का अध्ययन अपूर्ण ही होगा। 'कादम्बरी' के कथामूलक स्थापत्य का बीज प्राकृत के 'वसुदेवहिण्डी', 'कुवलयमाला', 'समराइच्चकहा' जैसे कथा-ग्रन्थों में ही सुरक्षित है। यह कहना अनपेक्षित न होगा कि प्रेम-शृंगार, त्याग-विराग, विलास-वैभव आदि कथातत्त्वों या रीति-गुण-अलंकार आदि शैल्पिक स्थापत्यों का एकत्र समवाय की दृष्टि से प्राकृत के कथाकाव्य पार्यन्तिक महत्त्व रखते हैं। कथानक-रूढि की विच्छित्ति और विविधता के विचार से तो प्राकृत-कथाकाव्यों की आदर्शात्मकता का कोई सानी नहीं है।

प्राकृत-भाषा के अध्ययन की पृष्ठभूमि की दृष्टि से शूद्रक का प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिक' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें नाटककार ने प्रेम की घटना को राज-नीतिक घटना के साथ चामत्कारिक ढंग से विनियोजित किया है। इसमें यथाप्रसंग सम्बद्ध पात्रों द्वारा शौरसेनी, पश्चिमी शौरसेनी, अवन्ती, दक्षिणी महाराष्ट्री, चाण्डाली, ढक्की, मागधी आदि प्राकृत-भाषाओं के प्रयोग किये गये हैं। इसी प्रकार, सोमदेव के 'ललितविग्रहराज' नाटक में महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी-प्राकृतों के प्रयोग

मिलते हैं। इसलिए, प्राकृत की मूल भाषिक प्रवृत्ति को जाने बिना संस्कृत-नाटकों की भाषा-प्रवृत्ति का ज्ञान सांगोपांग नहीं माना जायगा। अतएव, संस्कृत-नाटकों के अध्ययन के निमित्त प्राकृत-नाटकों का अध्ययन आवश्यक है।

संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों का जहाँतक प्रश्न है, उनके अध्ययन के लिए भी प्राकृत का अध्ययन अपेक्षित है। संस्कृत के जितने अलंकार-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें रस-व्यंजना, ध्वनि-लक्षण और लक्षणा के स्फुटीकरण के सन्दर्भ में चमत्कार-पूर्ण अलंकार के उदाहरण के लिए उपस्थापित मधुर-मनोरम श्लोक प्राकृत से ही लिये गये हैं। इसी प्रकार, संस्कृत के कोश, व्याकरण, दर्शन आदि के ग्रन्थों का रहस्य-परिज्ञान भी प्राकृत-भाषा के अध्ययन के विना असम्भव है। क्योंकि, उक्त विषय के ग्रन्थों में अनेक शब्द मूलतः प्राकृत-भाषा से ही संस्कृत-भाषा में विनिवेशित हुए हैं।

निष्कर्ष :

कहना यह कि भाषा के अंगभूत शब्दों का आनन्त्य है। पतंजलि या अनुभूति-स्वरूपाचार्य के शब्दों में इन्द्र आदि देवता भी शब्द-वारिधि का पार न पा सके। अतएव, किसी भी भाषा के अध्ययन के लिए सहयोगिनी भाषा का ज्ञान आवश्यक है। प्राकृत यद्यपि मूलभाषा है, तथापि संस्कृत की सहयोगिनी है। प्राकृत जब अपना मूल स्वरूप का परित्याग कर नागर रूप के व्यामोह में पड़ी, संस्कृत ने उसपर अपना आच्छादन डाल दिया। इसलिए, दोनों में जल-वीचि का संगम-सम्बन्ध स्थापित हो गया। जिस प्रकार तरंग को जल से अलग करके हम नहीं देख सकते, उसी प्रकार, संस्कृत के अध्ययन को प्राकृत के अध्ययन से अलग नहीं रख सकते। इसलिए, संस्कृत और प्राकृत इन दोनों ही भाषाओं के तत्त्वों का समानान्तर अध्ययन सदातन भाव से परस्पराभिमुख रहता आया है।

प्रकाशन १६८२—१६८४

डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त

- प्रसाद-काव्य : प्रतिभा और संरचना ४०)
- कबीर-काव्य : प्रतिभा और संरचना ६०)
- जायसी-काव्य : प्रतिभा और संरचना ८०)
- कामायनी : श्रद्धा (सर्ग)—व्याख्या-आलोचना २०)
- कामायनी : संस्कृति-सौंदर्य-श्रेयस् का संगीत ४०)
- ध्रुवस्वामिनी : परिशीलन ४०)
- हिंदी ऐतिहासिक-तुलनात्मक व्युत्पत्ति-कोश १००)

डॉ० रमाशंकर श्रीवास्तव :

- हल्ला मचाओ, गर्दन बचाओ (व्यंग्य) २४)
- गोदान की मनोभूमि २०)

भाषा-साहित्य-संस्थान

१४७ त्रिवेणी रोड, बाई का बाग

इलाहाबाद—३

फोन : ५४८७०

प्रकाशन १९८२—१९८४

डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त :

- प्रसाद-काव्य : प्रतिभा और संरचना ४०)
- कबीर-काव्य : प्रतिभा और संरचना ६०)
- जायसी-काव्य : प्रतिभा और संरचना ८०)
- कामायनी : श्रद्धा (सर्ग)—व्याख्या-आलोचना २०)
- कामायनी : संस्कृति-सौंदर्य-श्रेयस् का संगीत ४०)
- ध्रुवस्वामिनी : परिशीलन ४०)
- हिंदी ऐतिहासिक-तुलनात्मक व्युत्पत्ति-कोश १००)
- सूरसागर प्रथम स्कंध : भक्तियोग ४०)
  (डॉ० माताप्रसाद द्वारा सम्पादित पाठ; अर्थनिर्वचन-निरूपण)

डॉ० रमाशंकर श्रीवास्तव :

- हल्ला मचाओ, गर्दन बचाओ (व्यंग्य) २४)
- गोदान की मनोभूमि २०)

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव :

- प्राकृत-संस्कृत का समानान्तर अध्ययन २५)

भाषा-साहित्य-संस्थान

१४७ त्रिवेणी रोड, बाई का बाग

इलाहाबाद—३

फोन : ५४८७०